॥ श्रीः ॥

विद्याभवन आयुर्वेद ग्रन्थमाला
५३

॥ श्रीः ॥

त्रिदोष-संग्रहः

'विद्योतिनी' हिन्दी व्याख्योपेतः

लेखक

श्री धर्मदत्तवैद्य

आयुर्वेदाचार्य, विद्यालकार, सिद्धान्तालङ्कार, आयुर्वेदमहोपाध्याय, भूतपूर्व उपाध्याय
एव प्रिन्सिपल : गुरुकुल आयुर्वेदिक कालेज, हरद्वार

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१९६८

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, संवत २०२५ वि०

मूल्य : ३-५०

Post Box No. 69,

Chowk, Varanasi-1 (India)

1968

Phone : 3076

प्रधान कार्यालय :—

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

गोपाल मन्दिर लेन,

पो० आ० चौखम्बा, पोस्ट बाक्स ८, वाराणसी-१

THE
VIDYABHAWAN AYURVEDA GRANTHAMALA
53

TRIDOṢA-SAṀGRAHA

With 'Vidyotinī' Hindī Commentary

By
ŚRĪ DHARMADATTA VAIDYA
ĀYURVEDĀCHĀRYA.

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1968

First Edition
1968
Price Rs. 3-50

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
Publishers & Oriental Book-Sellers
P. O. Chowkhamba, Post Box 8, Varanasi-1 (India)
Phone : 3145

भूमिका

आयुर्वेद की त्रैदोषिक दृष्टि

शरीर के प्रत्येक अवयव में एक ओर तो वृद्धि की और दूसरी ओर पक्ति की प्रक्रिया दोनो साथ-साथ चल रही है अर्थात् शरीर के प्रत्येक अवयव मे कफ़कर्म और पित्तकर्म दोनो एकसाथ हो रहे है। दूसरे शब्दो मे इन दोनो प्रक्रियाओं या शरीर मे होनेवाले आय और व्यय के सामञ्जस्य या सन्तुलन पर ही प्रत्येक अंग का स्वास्थ्य निर्भर रहता है।

इनमे से पहली वृद्धि या आय की प्रक्रिया के ठीक-ठीक होने के लिए पोषक भोजन का लेना तथा कुछ काल विश्राम या निद्रा का लेना आवश्यक होता है क्योकि इन्ही दोनो से वृद्धिकर्म ठीक होता है।

दूसरी पक्ति की प्रक्रिया के ठीक-ठीक होने के लिए भोजनो के बीच कुछ न्यूनाधिक काल के लिए उपवास करना तथा शारीरिक आयास या व्यायाम करना जरूरी होता है क्योकि इन दोनो से पक्तिकर्म ठीक चलता है।

कफरोग—इन दोनो स्वाभाविक प्रक्रियाओ के विषम या असन्तुलित हो जाने पर रोग होता है। अर्थात् यदि पोषक आहार पर्याप्त लिया जाए और विश्राम भी पर्याप्त किया जाए पर उचित काल के लिए उपवास या लंघन न किया जाए और किसी प्रकार का शारीरिक व्यायाम न किया जाए तो स्वभावतः शरीर मे वृद्धिकर्म बढ जाता है और पक्तिकर्म मन्द हो जाता है। अर्थात् इस अवस्था मे भोजनतत्वो तथा शारीरिक धातुओ का पाक पूर्णता से नही होता, जिससे अपक्ति या अपूर्ण पक्ति से उत्पन्न कुछ आमद्रव्य (Mal products of incomplete digestion and metabblism) शरीर में बढ जाते है। इन आमद्रव्यो के शरीर मे बढ़ने से जो रोग होते है उन्हे कफ-

रोग कहा जाता है। इनका, प्रकृति से निर्बल या शीत, आघात आदि से निर्बल हुए जिस अग पर दुष्प्रभाव होता है उसमे कफरोग होता है। इस प्रकार सब कफरोगो का मूल कारण वृद्धिकर्म की अधिकता और पक्ति कर्म की न्यूनता है।

उदाहरण—

कफाजीर्ण या आमाजीर्ण (Catarrhal gastritis) उसे कहते है जिसमे वृद्धिकर्म की अधिकता और पक्तिकर्म की न्यूनता के कारण गुरुता, स्निग्धता, शीततायुक्त शोथ आमाशय की श्लेष्मकला मे हो जाता है जिससे भोजन के बाद गुरुता, यथा भुक्त उद्गार, उत्क्लेद आदि लक्षण होते है तथा जिसमे लंघन, वमन, कटु-तिक्त-कषायरस, लघु रूक्ष उष्ण गुण, औषधाहार विहार से उदाहरणतः भोजन से पहले क्षारयुक्त निम्बादि चूर्ण के देने या भोजन के बाद लवणभास्कर आदि देने से लाभ होता है।

इसी प्रकार कफातिसार (Dyspeptic Diarrhoea) उसे कहते है जिसमे भोजन के अपक्व रहने के कारण क्षुद्रान्त्र मे गुरुता, स्निग्धता, शीततायुक्त शोथ हो कर गाढा और दुर्गन्धित मल बडी मात्रा मे बार बार आता है। इस आमातिसार मे भी पक्तिकर्म को बढाना चाहिए अर्थात् लवणभास्कर के साथ हरीतकी चूर्ण को देना चाहिए या लशुनाष्टक चूर्ण या लवग चतु सम या रामबाण या संजीवनी वटी का प्रयोग करना चाहिए।

कफप्रवाहिका (Dyspeptic Dysentery) उसे कहते है जब अपूर्ण पक्व भोजन के कारण वृहदन्त्र के निम्न भाग मे गुरुता, स्निग्धता, शीततायुक्त शोथ होकर श्वेतवर्ण श्लेष्म स्राव युक्त मल थोडी-थोडी मात्रा मे बार-बार आने लगता है। उसकी रूक्ष तथा पाचक चिकित्सा जैसे बालबिल्व और सौंफ के चूर्ण के या बिल्व, इन्द्रयव, सौफ, मोथा और मोचरस के चूर्ण के या छोटी हरड और सौंफ के चूर्ण के थोडी-थोडी देर मे देने से लाभ होता है।

कफशूल (Colic due to Dyspepsia) भी आमाशय पक्वाशय मे कफाजीर्ण से होनेवाली दर्द को कहा जाता है। उसके लिए किसी दीपक, पाचक, रेचक औषधि का जैसे हरीतकी मिश्रित हिंग्वष्टक का या हिगु आदि चूर्ण का प्रयोग किया जाता है।

कफगुल्म (Catarrhal Appendicitis) भी उस शोथ को कहते है जो कफाजीर्ण के कारण आन्त्रपुच्छ मे होता है तथा जिसमे नाभिप्रदेश पर मन्द-शूल, हृल्लास, अरुचि और मन्दज्वर के लक्षण होते है। उसके लिए भी लंघन, दीपन पाचन, स्निग्ध, उष्ण, वातानुलोमक चिकित्सा की जाती है। उदाहरणतः हिंगु-त्रिगुणतेल, मिश्रक स्नेह (यो० र०) क्षीरषट्पलघृत, रसोनघृत (च० द०) आदि किसी का अन्तःप्रयोग किया जाता है ।

कफजनित यकृच्छूल उसे कहते है जब कफवर्धक आहार-विहार से पित्ताशय (Gall bladder) मे गुरुता, स्निग्धता, शीततायुक्त शोथ होता है । इसके लिए भी लंघन चिकित्सा तथा रूक्षण चिकित्सा जैसे हरीतकी चूर्ण के या सामुद्रादि चूर्ण या मण्डूर वटक या पञ्चामृत लोहमण्डूर के या हिंगु आदि चूर्ण के किसी क्षार के साथ मिला के देने से लाभ होता है ।

कफप्रतिश्याय तथा कफकास भी नासामार्ग तथा श्वासमार्ग मे गुरुता, स्निग्धता, शीततासूचक शोथ होकर इनसे श्लेष्म द्रव के स्राव के होने से होते है। इनके लिए भी लंघन तथा रूक्ष-उष्णगुण औषध आहार-विहार हितकर होते है । आर्द्रक रस को मधु के साथ या व्योपादि, कट्फलादि, तालीशादि, चित्रक हरीतकी, वब्बूलारिष्ट आदि किसी को दिया जा सकता है। इन रोगो के साथ होनेवाले श्लैष्मिक गलशोथ या कण्ठशोथ के लिए भी त्रिफला को मधु के साथ या अगस्त्य हरीतकी को दिया जा सकता है तथा पञ्चवल्कल क्वाथ या कत्थे, मुलहठी, लसूडे के क्वाथ के कुल्ले कराए जा सकते है। या खदिरादि गुटी को मुख मे रखा जाता है ।

कफश्वयथु (Glomerulo nephritic oedema) हो अर्थात् वृक्को के धमनी गुच्छो (Glomeruli) तथा मूत्रस्राविणियो (Tubules) मे, गुरुता, स्निग्धता, शीततायुक्त शोथ होकर पाण्डुवर्ण सर्वांगशोथ हो अन्नारुचि, गलशोथ (Tonsillitis), आलस्य के लक्षण हो तो भी लंघन-रूक्षण चिकित्सा करनी चाहिए । तीन-चार दिन का पूर्ण लंघन कराये या रोगी को निम्बुरसयुक्त चाय पर ही रखे या जल मे मधु या ग्लूकोज मिलाकर उसी पर उसे रखे । मृदु रेचन देने या पुनर्नवाष्टक क्वाथ से मण्डूर वटक के देने या गोमूत्र साधित मण्डूर

के देने या पुनर्नवा हरीतकी अवलेह, अगस्त्य हरीतकी अवलेह, पुनर्नवासव के देने या केवल गोमूत्र के देने से लाभ रहता है।

सिकतामेह हो, अश्मरी हो या मूत्र मे ओक्जेलेट्स, यूरेट्स, फास्फेट्स आते हो तो भी वृद्धिकर्म की अधिकता और पक्तिकर्म की मन्दता का अनुमान करना चाहिए और अन्न की या कार्वोहाइड्रेट भोजन की मात्रा कम कर देनी चाहिए। खाण्ड और दाल की मात्रा भी स्वल्प कर देनी चाहिए। भोजन के वाद किसी दीपन-पाचन औषधं का सेवन करना चाहिए, रात्रि को त्रिफला चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए।

सिकता तथा अश्मरी के लिए गोक्षुरुचूर्ण या गोक्षुरु क्वाथ को गाढा कर उसमे गोक्षुरु और गुग्गुलु डालकर वनाई गोक्षुरादि गुग्गुलु की गोलियां या कुलत्थ क्वाथ या वरुण, पाषाणभेद, शुण्ठी और गोक्षुरु का यवक्षारयुक्त क्वाथ या यवक्षार से चन्द्रप्रभा, या कुलत्थ, वरुण, गोक्षुरु, विडंग, के क्वाथ मे यवक्षार सैन्धव डालकर वनाया घृत (कुलत्थादि घृत) या पाषाणभेदादि घृत (च० द०) या सुकुमार-कुमार घृत देना चाहिए। दूध मे शिलाजीत का प्रयोग भी हितकर है।

मेदोवृद्धि या स्थौल्य (Obesity) का रोग भी पक्तिकर्म की मन्दता और वृद्धिकर्म की अधिकता से मेदा के स्थानो मे उसके अधिक सञ्चित हो जाने से होता है।

स्रोतोरोध या धमनी प्रतिचय (Atherosclerosis) का रोग भी पक्तिकर्म की मन्दता से तथा वृद्धिकर्म की अधिकता से धमनियो की दीवार की अन्दर की तह मे वसा के अधिक बैठ जाने से होता है। मस्तिष्क, हृदय, कोष्ठ तथा टागों की धमनियो मे स्रोतोरोध का रोग विशेषतः होता है। इन दोनो रोगो के लिए अन्न, घृत, खाण्ड आदि की मात्रा कम करनी चाहिए। मृदुव्यायाम करना चाहिए। घृत के स्थान पर तिल तेल, सर्षप तेल, मूङ्गफली तेल या सफोला तेल का प्रयोग करना चाहिए। प्रात गर्मजल मे निम्बु तथा शहद डाल के लेने से, त्रिफला के या त्रिफला में पिप्पली, वंशलोचन और मुलहठी मिला के लेने से या आमलकी रस से भावित आमलकी चूर्ण के लेने से या शिवागुग्गुलु या अमृतादि गुग्गुलु के लेने से लाभ होता है।

पक्षाघात, मस्तिष्क की रक्तवाहिनियों मे स्रोतोरोध से होता है। उसके लिए भी महायोगराज गुग्गुलु का रास्नादि क्वाथ से प्रयोग उपयोगी है। निर्बलता के लिए बृहद् वातचिन्तामणि का प्रयोग भी किया जाता है।

हृदयशूल का रोग हृदय की रक्तवाहिनियो मे स्रोतोरोध से होता है। उसके लिए भी लंघन-रूक्षण चिकित्सा ही करनी चाहिए। शिवागुग्गुलु, एरण्ड तैल से साधित सैन्धवादि तैल का या हिंगु आदि चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए।

आमवातिक संधिशूल या मांसशूल (Rheumatic Arthritis तथा Fibrositis) उसे कहते है जब सधियो और मासपेशियो के अन्दर विद्यमान स्नायु तन्तु (Collagen tissue) के अन्दर शरीर मे उत्पन्न किसी आमद्रव्य (Abnormal metabolite) के लिए असात्म्यता (Allergy) होती है। स्नायुतन्तु मे शोथ हो जाने से यह आमवातिक शूल होता प्रतीत होता है। ये शूल क्यो होते है इस विषय मे अभी तक कोई निर्णय नही हो पाया पर आयुर्वेद की स्थापना ऐसी है कि ये किसी आमद्रव्य के कारण होते है। अत इन्हे आमवातिक शूल कहा गया है। तथा इनके लिए पक्तिकर्म को बढानेवाली और वृद्धिकर्म को कम करनेवाली तथा शरीर मे या आतो मे उत्पन्न आमद्रव्य को बाहर निकालने वाली चिकित्सा का प्रतिपादन किया है। आमवातिक शूलो के लिए रेचक, दीपक, पाचक औषधियो से युक्त गुग्गुलु का जो स्वयं लघु-रूक्ष-उष्ण गुण होता है प्रयोग किया जाता है। एरण्ड तेल से साधित सिंहनाद गुग्गुलु का, त्रिफला से साधित शिवागुग्गुलु का, महायोगराज गुग्गुलु का रास्नादि क्वाथ के साथ, एरण्ड तेल साधित बृहत्सैंधवादि तैल का, एरण्ड तेल के साथ रास्नादि क्वाथ का या रास्नादि क्वाथ से साधित एरण्ड तेल का या यवक्षारयुक्त दशमूल क्वाथ के साथ एरण्ड तेल का या घृत मे भर्जित शुण्ठी और सनाय समभाग मे खाण्ड मिलाकर बनाये चूर्ण का या पंचशकार का प्रयोग किया जाता है। गृध्रसी-पादकंण्टक आदि सब आमवातिक शूलो के लिए वहां-वहां सिंगी या जोक लगाकर रक्त निकाल देने तथा उपर्युक्त चिकित्सा करने से लाभ होता है।

अर्दित (Bell's palsy) का रोग भी मस्तिष्क सप्तम नाडी मे इसी प्रकार के आमवातिक शोथ (Fibrositis) के कारण होता है। उसके लिए भी स्वेदन तथा उपर्युक्त चिकित्सा लाभदायक होती है।

इस प्रकार शरीर के किसी अङ्ग मे भी ऐसा शोथ या रोग हो जो वृद्धिकर्म की अधिकता और पक्तिकर्म की न्यूनता के कारण हो तो उसे उस अंग का कफ रोग कहते है और उसके लिए लघु रूक्ष, उष्ण, गुण औषध आहार-विहार का विधान किया जाता है।

पित्तरोग :—अब यदि किसी अंग मे पक्तिकर्म बढ जाता है और वृद्धिकर्म मन्द पड जाता है जैसा कि किसी अङ्ग पर अभिघात लगने से उस अङ्ग के किसी अश के मृत हो जाने पर उस मृत अंश के पाक करने के लिए होता है या किसी अङ्ग पर कोई तीक्ष्ण, उष्ण विषैला द्रव्य आ पडता है या उसमे किसी रोगजनक जीवाणु का प्रवेश हो जाता है जिससे उसमे कोई ऐसा पाचक रस (Digestive cnzyme) उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण वहा तो पूयभाव की प्रक्रिया होती है और सारे शरीर की धातुओ मे पाक की प्रक्रिया के बढ जाने से ज्वर स्वेद, पिपासा आदि लक्षण हो जाते हैं। इसे आयुर्वेद मे पित्तरोग कहते हैं।

उदाहरण—

पित्ताजीर्ण (Acute Gastritis) उसे कहते हैं जिसमे किसी तीक्ष्ण उष्ण गुण औषध आहार-विहार से आमाशय की श्लेष्मकला मे तीव्र शोथ (Inflammation) हो जाता है जिससे अम्लद्रवयुक्त वमन, शूल, उरोदाह, पिपासा आदि लक्षण होते है। इस रोग मे आमाशय मे विद्यमान विदग्ध विषैले द्रव्य को निकालने के लिए निम्बक्वाथ से मदनफल चूर्ण दिया जाता है और बचे हुए मल को बाहर निकालने के लिए हरीतकी चूर्ण या सौंफ के चूर्ण को थोडी-थोडी देर बाद शहद से चटाया जाता है।

पित्तातिसार (Acute Diarrhoea) उसे कहते हैं जिसमे किसी तीक्ष्ण-उष्ण गुण विषैले भोजन से क्षुद्रान्त्र मे तीक्ष्णउष्ण गुण शोथ होकर ज्वर, दाह, पिपासा आदि लक्षणो के साथ, पतले अतिसार होते है। इसमे उशीर, मोथा, नेत्रवाला, चन्दन, कट्फल, लोध्र, दाडिमत्वक् , सोठ आदि मे से किन्ही दो-तीन द्रव्यो का फाण्ट पिलाया जाता है, आनन्दभैरव रस या प्रवालपञ्चामृत दिया जाता है। रेचन विशेष हो तो कर्पूर रस दिया जाता है।

पित्तप्रवाहिका (Acute bacillary Dysentery) उसे कहते हे जव वृहदन्त्र के निम्न भाग मे दाह-पाकयुक्त तीव्र शोथ होकर ज्वर, पाण्डुतायुक्त रक्त मिश्रित श्लेष्म द्रव वार-बार आता है। इसके लिए भी शीत शामक द्रव्य जैसे वालविल्व और सौंफ के चूर्ण को खाण्ड के साथ या बालबिल्व इन्द्रयव, मोचरस के चूर्ण का किसी शीतल शर्बत के साथ या ईसवगोल की भूसी के साथ प्रयोग किया जाता है।

पित्तगुल्म (Acute appendicitis) उसे कहते है जब आन्त्रपुच्छ मे तीक्ष्ण-उष्ण गुण शोथ होता है जो वहुधा शल्यकर्म-साध्य होता है या जिसे द्राक्षा, मधुयष्ठी के क्वाथ मे एरण्ड तेल मिलाकर देने से कुछ लाभ होता है।

पित्तकास (Suppuiative bronchitis) उसे कहते है जिसमे श्वासमार्ग के अन्दर तीक्ष्ण-उष्ण गुण पाकयुक्त शोथ होता है और जिसमे खासी के साथ पूययुक्त वलगम आती है, पाण्डुता और ज्वर के लक्षण होते है। इसके लिए भी शीतशामक चिकित्सा जैसे सितोपलादि, वासाद्राक्षाहरीतकी क्वाथ या वासावलेह, वासाखण्डकूष्माण्ड आदि का प्रयोग होता है।

पित्तमेह उसे कहते है जिसमे रक्त के अतिपचन से उत्पन्न (Bilirubin) आदि मल, मूत्र मे अधिक आने लगते है या जव वृक्को के मूत्राशय (Pelvis) मे पूययुक्त शोथ (Pyelitis) होता है जहा से उत्पन्न हुई पूय मूत्र मे आती है। इस रोग के लिए शीतगुण मूत्रल चिकित्सा का विधान है जैसे पञ्चतृणमूल, उशीर, चन्दन, त्रिफला, नीलोत्पल, लोध्र, गोखरू आदि मे से किन्ही २–३ के क्वाथ मे यवक्षार डालकर देते है। या कुशावलेह, उशीरासव, चन्दनासव आदि का प्रयोग किया जाता है।

पित्तपाण्डु (Haemolytic anaemia) उस पाण्डु को कहते है जो रक्त के अन्दर पक्तिकर्म के बढ जाने से होता है। उसके लिए तिक्तरस शीतगुण ओषधियों के साथ अर्थात् त्रिफला कटुकी क्वाथ के साथ किसी तिक्त घृत के साथ या धात्र्यरिष्ट के साथ लोहभस्म या लोहासव का प्रयोग किया जाता है।

पैत्तिक रक्तस्राव (Toxic purpura) उस रक्तस्राव को कहते है जो शरीर के अन्दर उत्पन्न या बाहर से आए किसी तीक्ष्ण-उष्ण गुण द्रव्य के

रक्तवाहिनियो पर दुष्प्रभाव से उत्पन्न होता है। इसके लिए शीतस्निग्ध चिकित्सा उपयोगी है अर्थात् दूर्वादि घृत, वासाघृत, वासावलेह, उशीरासव आदि देकर देह के पक्तिकर्म को मन्द किया जाता है।

इस प्रकार पक्तिकर्म की अधिकता से जब किसी अङ्ग मे तीक्ष्णता-उष्णता से युक्त शोथ अथवा पाक के लक्षण होते है तो उसे उस अङ्ग का पित्तरोग कहा जाता है। इसके कारणभूत विषद्रव्य को निकालने के लिये विरेचन देने तथा कुछ रक्तस्राव कर देने का विधान है तथा पक्तिकर्म को कम करने के लिए मृदु लंघन तथा लघुशीतस्निग्ध गुण औषध आहार-विहार का विधान है।

प्राणतत्व—उपर्युक्त इन वृद्धिकर्म तथा पक्तिकर्म के अतिरिक्त शरीर के प्रत्येक अवयव मे एक संज्ञाकर्म तथा चेष्टाकर्म का लक्षण भी मिलता है जिसे देखने पर ऐसा लगता है मानो शरीर का प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयव एक प्राणतत्व या जीवनीय तत्व से अनुप्राणित हो रहा है इस संज्ञा या चेष्टा के कारण या मूलभूत तत्व को आयुर्वेद मे वायु या वात कहा है।

यह वायुतत्व किसी अंग मे तभी तक ठीक रहता है जब तक उसे उचित आहार तथा उचित विश्राम मिलता है। तथा यह तब तक ठीक रहता है जब तक उस अङ्ग मे होने वाला पक्तिकर्म (Oxidation) ठीक चलता है। क्योंकि इस कर्म से उत्पन्न होनेवाली शक्ति (Energy) उसे मिलती रहती है। इस प्रकार कफकर्म और पित्तकर्म के ठीक रहने से उस अङ्ग का वायुतत्व भी ठीक रहता है। इस प्रकार आयुर्वेद के मत मे जब तक किसी अग का वृद्धितत्व, पक्तितत्व और प्राणतत्व सम या नार्मल अवस्था मे रहते है वह अंग स्वस्थ रहता है।

वायुरोग— अब यदि किसी अङ्ग को पोषकतत्व यथावत् न मिले, उसे उचित विश्राम भी न मिले या उसमे होनेवाला पक्तिकर्म मन्द या तीक्ष्ण हो जाए या उसे सहसा अतिशीत लग जाए या उस पर कोई विषतत्व आ पड़े या उस पर किसी आमविष (Abnormal metabolite) का दुष्प्रभाव हो जाए तो उस अङ्ग का यह प्राणतत्व जिसे वायुतत्व कहते हैं निर्बल हो जाता है, जिससे उसकी स्थिरता, उष्णता और क्षमता कम हो जाती है। अब वह किसी भी बाह्य

विक्षोभक कारण से जो भौतिक, रासायनिक, जीवाणु सम्वन्धी या मानसिक हो सकता है शीघ्र विक्षुब्ध या विष्टब्ध हो जाता है।

इस प्रकार जब किसी भी अङ्ग मे स्थिरता के स्थान पर चंचलता, सहनशीलता के स्थान पर विक्षोभशीलता, उष्णता के स्थान पर शीतता, स्निग्धता के स्थान पर रूक्षता, गुरुता के स्थान पर लघुता बढ जाती है तो कहा जाता है कि उस अङ्ग मे वायु वृद्धि हो गई है।

उदाहरण—

वाताजीर्ण (Asthenic Dyspepsia) उसे कहते है जब आमाशय की दीवार मे जो चेष्टाकारक तत्व या प्राणतत्व रहता है जिस पर उसकी चेष्टा तथा उसमे होने वाले पाचक रस का स्राव निर्भर है वह दुःख, विषाद, भय, शोक आदि अवसादक भावो के द्वारा (Sympathetic नाडीमण्डल की उत्तेजना से) अथवा अन्य निर्वलताजनक कारणो के द्वारा निर्वल या अवसन्न हो जाता है। इस अवस्था मे अन्न के यथावत् जीर्ण न होने से जो गैस उत्पन्न होता है उसके दवाव (Tension) के द्वारा आमाशय मे विष्टम्भ या शूल प्रतीत होता रहता है जिससे इसे विष्टम्भाजीर्ण भी कहते है। इसके लिए हीगवाले किसी चूर्ण को जैसे हिग्वष्टक-लशुनाष्टक को घृत के साथ भोजन से पहले दिया जाता है।

परिणामशूल या वातपित्तज आमाशयशूल (Gastric या Duodenal ulcer) उसे कहते है जिसमे आमाशय के अन्दर पाचकरस का स्राव अधिक मात्रा मे होता है तथा जिसमे आमाशय की अन्नप्रेरक शक्ति तीव्र हो जाती है (जैसा कि चिन्ता, क्रोध, कलह आदि उत्तेजक मानसिक भावो के द्वारा Parasympathetic नाडीमण्डल के उत्तेजित हो जाने से होता है) तथा जिसमे आमाशय के शीघ्र खाली हो जाने पर उसकी श्लेष्मकला पर पाचक रस का दुष्प्रभाव होने से भोजनोत्तर शूल होता है। इस प्रकार आमाशय की दीवार के अन्दर विद्यमान वायुतत्व के निर्वल एवं विक्षोभशील हो जाने से यह रोग होता है। इस रोग मे त्रिफला, मुलहठी और शम्बूक भस्म के चूर्ण को मधु और

घृत के साथ दिन मे कई वार चटाया जाता है। आवले के रस को या आंवले के चूर्ण को खाण्ड के साथ कई वार दिया जाता है या शम्बूकादि (शम्बूक भस्म ३, लोह २, रसौंत १ मण्डूर १ भाग, खाण्ड सर्वतुल्य) को कई वार जल से दिया जाता है। शतावरी स्वरस आमलकी स्वरस से त्रिफला कल्क डालकर वनाया घृत, या शतावरी मण्डूर, या धात्रीलोह (च० द०) या खण्डामलकी का प्रयोग भी हितकर है। तिक्त घृत भी इस रोग मे दिए जाते हैं। केवल त्रिफला पटोल कटुकी के तिक्त क्वाथ को खाण्ड मिला कर दिया जा सकता है। गुड मे निम्बो के साथ कुछ शम्बूकभस्म और हरड मिला के उसे खिलाया जाता है। दूध भी शतावरी तथा गोखरू से पकाकर देना अधिक लाभदायक होता है।

वातातिसार उसे कहते है जिसमे क्षुद्रान्त्र या वृहदन्त्र मे चचलता या विक्षोभशीलता का गुण वढ जाता है अर्थात् उनकी मलप्रेरक शक्ति (Neuromuscular activity) अपक्व भोजन द्रव्य से विक्षुब्ध होकर, गैसयुक्त अपक्व मल को वार-वार फेकने लगती हैं। इसके लिए वालविल्व, मुस्ता, मोचरस, अतिविषा और इन्द्रयव के चूर्ण को तक्र के साथ दिया जाता है।

वातिक आन्त्रशूल उसे कहते है जिसमे अपक्व अन्न मे उत्पन्न गैस के द्वारा आत मे विष्टम्भ (Spasm) होकर नाभिप्रदेश पर शूल होता है। इसके लिए हिगुत्रिगुण तैल को या दशमूल क्वाथ मे हीग, सौवर्चल डालकर उसे एरण्ड तेल के साथ दिया जाता है। एरण्ड तेल मे तलकर बनाई हरडो के चूर्ण को नमक के साथ दिया जाता है या हिंग्वष्टक और हरीतकी चूर्ण को दिया जाता है।

वातिक प्रवाहिका (Dysentery with rectal spasm) उसे कहते है जव वृहदन्त्र के निम्नभाग मे किसी विक्षोभक आहार के द्वारा चंचलता और विक्षोभशीलता वढ जाती है एव मल थोडी-थोडी मात्रा मे दर्द और मरोड के साथ आता है। इस शूल के लिए ईसवगोल की भूसी को वालविल्व और सौफ के साथ मिला कर चावलो की माण्ड से या दूध से दिया जाता है। कुटजाष्टक को भी दूध से दिया जाता है।

वातिक अतिसार (Nervous Diarrhoea) भय के कारण वडी आत मे विक्षोभशीलता के बढ जाने से भी होता है। इसमे बल्य, बृंहण तथा मन:शामक औषधियो से लाभ होता है।

वातिक आन्त्र विष्टम्भ या आत मे गैस होने का रोग वडी आत मे चिरस्थायी शोथ (Colitis) के रहने के कारण वहा उत्पन्न गैस के विलीन न हो सकने से तथा वातिक निर्वलता के कारण आत के उसे बाहर न फेक सकने से होता है जिससे रोगी को पेडू पर हलका दर्द अथवा भारीपन रहता है। ईसवगोल की भूसी के साथ थोडी सौंफ और थोड़े इन्द्रयव और जीरक के चूर्ण के लेते रहने से आत के अन्दर के शोथ के शान्त होने पर यह रोग अच्छा हो जाता है, यद्यपि यह रोग सुखसाध्य नही है।

वातिक मलावरोध (Dischezia) का रोग उसे कहते है जब कोई निश्चित समय पर मलत्याग के लिए नही जाता या मलत्याग के वेग की अवहेलना करता है जिससे मलाशय की मलानुलोमक शक्ति (Tone) कम हो जाती है और वह वहा उपस्थित मल को यथावत् नही फेकती। इसके लिए प्रात: साय मलत्याग का कोई निश्चित समय होना चाहिये, उस पर मलत्याग के लिए जाना ही चाहिए या गर्म जल पीकर उसके वेग को प्रवृत्त करना चाहिए या सर्वागासन के द्वारा उसे प्रवृत्त करना चाहिए। संकल्प से भी यह वेग प्रवृत्त होता है। रात को १–२ चम्मच बादामरोगन लेने से या त्रिफला चूर्ण आदि थोडा लेने से या पैराफीन १ औन्स के लेने से या भोजन के प्रारम्भ मे १ तोला घृत दो-तीन ग्रासो के साथ लेते रहने से मलाशय की इस निर्बलता को दूर किया जा सकता है।

वातिक यकृद्वृद्धि (Cirrhosis) का रोग उसे कहते है जब यकृत् के अन्दर रूक्षता, लघुता खरता, आदि क्षीणतासूचक लक्षण होकर फिर आमाशय मे शोथ हो जाता है जिससे मन्दाग्निसूचक आध्मान, अन्नारुचि आदि लक्षण हो जाते है और वाद मे उपद्रव रूप मे कुछ-कुछ जलोदर के लक्षण होने लगते है। इसके लिए रोगी को तक्र तथा स्नेहरहित दूध, शहद, फल, ग्लूकोज अधिक मात्रा मे मिलना चाहिए। इस रोग के लिए गोमूत्रसाधित मण्डूर वटक को

पुनर्नवाष्टक क्वाथ से देना चाहिये या पुनर्नवा मण्डूर देना चाहिए या गोमूत्र पिलाना चाहिए या गोमूत्र मे पकी हुई हरडो का चूर्ण देना चाहिए या उसे पुनर्नवाष्टक क्वाथ से महायोगराज गुग्गुलु देना चाहिए।

वातिक प्रतिश्याय या क्षवथु (Allergic Rhinitis): का रोग उसे कहते है जिसमे नासा की श्लेष्मकला के अन्दर स्थित प्राणतत्व निर्बल होता है और किसी बाह्याभ्यन्तर विक्षोभक तत्व से शीघ्र विक्षुब्ध हो उठता है। नासिका की इस निर्बलता को दूर करने के लिए दूध मे बादाम रोगन या घृत पिलाना चाहिए। त्रिफला को घृत मधु के साथ चटाना चाहिए। या त्रिफलाघृत देना चाहिए। अगस्त्य हरीतकी, चित्रक हरीतकी के देने से तथा माषतैल, षड्बिन्दु घृत या तेल के नस्य से भी लाभ होता है।

श्वासरोग (Bronchial Asthma) उसे कहते है जिसमे श्वास-नालियो की दीवार मे स्थित प्राणतत्व निर्बल होता है, वह श्वास द्वारा या भोजन द्वारा आए किसी विक्षोभक गुण तत्व से विक्षुब्ध हो उठता है, जिससे श्वासनालियो मे चलता और विष्टब्धता (Spasm) का लक्षण उत्पन्न हो जाता है। श्लेष्मकला भी फूल जाती है। इस प्रकार श्वासनालियो के तग हो जाने से श्वास लेना और उसका बाहर फेकना दोनो कठिन हो जाते है। इसके लिए रोगी की स्निग्धतर्पण चिकित्सा होनी चाहिए। उसे घृत लेना चाहिए तथा दशमूल क्वाथ मे यवक्षार डालकर पिलाना चाहिए। दशमूलादि घृत (च० द० कासरोग) दशमूलषट्पलघृत, दशमूलारिष्ट तथा अगस्त्य हरीतकी अवलेह भी उसके लिए लाभदायक होते है।

वातिक कास रोग (Chronic Bronchitis) उसे कहते है जिसमे श्वासनालियो की दीवार के प्राणतत्व के निर्बल हो जाने से उसमे लघुता (Atrophy), रूक्षता (Fibrosis), खरता (Arteriosclerosis) के लक्षण हो जाते है जिससे उनकी जीवाणु प्रतिरोधक शक्ति कम हो जाती है एवं उनमे जीवाणु सक्रमण सुगमता से हो जाता है। यह रोग शीत लगने से होता है एव चिरकाल रहता है। इसके लिये भी रोगी की प्राणशक्ति को बढाने का यत्न करना चाहिए। उसे घृत, मक्खन तथा फलो के रस मिलने

चाहिएँ। उपर्युक्त दशमूलादि घृत–दशमूलषट्पलघृत–चरकोक्त जीवनीयघृत–अगस्त्य-हरीतकी–च्यवनप्राश–दशमूलारिष्ट–द्राक्षारिष्ट आदि मे से किसी का प्रयोग कराना चाहिए। स्वर्णघटित लक्ष्मीविलास, वसन्तकुसुमाकर भी उसके लिए बडे हितकर है।

वातिक मेहरोग (Chronic Nephritis) उसे कहते है जिसमे वृक्को के प्राणतत्व के क्षीण हो जाने से उनमें लघुता, रूक्षता तथा खरता के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं जिससे मूत्र की मात्रा तो बढ जाती है पर मूत्र मे निकलने वाले यूरिया आदि मलो की निकासी घट जाती है। इस अवस्था मे मूत्र में मज्जा आने लगे तो उसे मज्जामेह (Albuminuria) कहते है। इस अवस्था मे भी रोगी को घृत और फलो का रस मिलना चाहिए। उसे चन्द्रप्रभा, मुक्तापञ्चामृत या कामदुघा रस भी मिलना चाहिए। अन्न उसे थोडा ही लेना चाहिए। प्रोटीन भोजन बहुत कम लेना चाहिए।

मधुमेह रोग उस वातिक मेह को कहते है जिसमे अग्न्याशय के उस खण्ड (Beta cells) का जो शर्करा पाचक रस (Insulin) को उत्पन्न करता है प्राणतत्व क्षीण हो जाता है, जिससे उस भाग मे लघुता, रूक्षता, खरता के लक्षण उत्पन्न हो जाते है और उनसे उत्पन्न होनेवाले शर्करा पाचक रस की निकासी घट जाती है, जिसके परिणामस्वरूप शरीर के अन्दर शर्करा का पाचन या खपत ठीक-ठीक नही हो पाती एवं वह रक्त मे बढ जाती और मूत्र द्वारा बाहर निकलने लगती है। इस रोग में भी रोगी की शक्ति को बढाना चाहिए। उसे चन्द्रप्रभा, वसन्तकुसुमाकर आदि का प्रयोग कराना चाहिए तथा मूत्र मे खाण्ड की मात्रा को कम करने के लिए उसे जामुनपत्ररस, बिल्वपत्ररस या करेले का रस पिलाना चाहिए।

हस्तीमेह (Diabetes insipidus) उस वातिक मेह को कहते है जिसमे 'पिट्यूटरी' ग्रन्थि के पश्चिम भाग के अन्दर प्राणतत्व के क्षीण हो जाने से उसमे लघुता, रूक्षता, खरता के लक्षण उत्पन्न हो जाते है, जिससे उस भाग से उत्पन्न होनेवाले मूत्रनियामक रस (Pitressin) की निकासी घट जाती है जिससे वृक्को के द्वारा जल का बहुत-सा भाग जो विलीन कर लिया जाता है

विलीन होना बन्द हो जाता है एवं मूत्र की मात्रा अधिक बढ जाती है। इस रोग मे भी रोगी के बल को बढाना चाहिए। शतावरी, विदारी आदि किसी से पका दूध उसे पीना चाहिये। आवले का ताजा रस भी उसे लेना चाहिये। वसन्तकुसुमाकर भी उसके लिये हितकर है।

वसामेह (Ketonuria) उसे कहते है जब मधुमेह के उपद्रव रूप मे वसा का कुछ अंश रक्त मे बढ जाता है जो मूत्र मे भी कुछ निकलने लगती है। मधुमेह की चिकित्सा ही इसकी चिकित्सा है।

शीतपित्त (Urticaria) का रोग तब होता है जब त्वचा का प्राणतत्व निर्बल होता है जिससे उसकी रक्तवाहिनिया किसी विक्षोभक द्रव्य से शिथिल होकर फैल जाती है। इसके लिए रोगी को त्रिफला, पिप्पली का चूर्ण देना चाहिए तथा तिक्तघृत कुछ दिन पिलाना चाहिए।

रक्तभार के गिर जाने तथा सर्वांग शैथिल्य (Shock या Collapse) का रोग उसे कहते है जिसमे शरीर की रक्तवाहिनियो मे विद्यमान प्राणतत्व निर्बल होता है जिसके कारण वे किसी बाह्याभ्यन्तर विक्षोभक द्रव्य के अन्दर आ जाने से शिथिल हो जाती है एव रक्तभार गिर जाता है। इसकी निवृत्ति के लिये घृत, मक्खन, फलरस आदि देकर रोगी के बल को बढाना चाहिए। बृहच्छतावरी घृत, बृहदश्वगंधाघृत, चरकोक्त जीवनीय घृत तथा बृहद्वातचिन्तामणि तथा कुचले की गोली आदि से भी हृदय तथा रक्तवाहिनियो का बल बढता है।

अर्धावभेदक (Migraine) का रोग उसे कहते है जब कपाल की रक्तवाहिनियो का प्राणतत्व निर्बल होता है जिससे वे रक्त के द्वारा आए किसी विक्षोभक द्रव्य से शिथिल होकर फैल जाती है एव सिर मे भारी दर्द होने लगता है। इसके लिए रोगी को त्रिफला दूध से या जल से लेना चाहिए। बादामरोगन लेना चाहिए। महात्रिफला घृत तथा अगस्त्यहरीतकी भी इसके लिए उपकारी है। घृत के नस्य से या षड्बिन्दुघृत, माषतैल, अणुतैल आदि के नस्य से भी यह निर्बलता घटती है।

वातिकहृद्रोग (Asthenic heart disease) उसे कहते हैं जब हृदय किसी थोड़े मानसिक या शारीरिक विक्षोभक कारण से विक्षुब्ध होकर तीव्रगति करने लगता है। इसके लिए त्रिफला, मुलहठी और वंशलोचन के चूर्ण को या अर्जुनवला और हरीतकी के चूर्ण को घृत-मधु से चटाया जाता या हरड के या आवले के मुरब्वे का प्रयोग किया जाता या धात्र्यरिष्ट, अर्जुनारिष्ट, च्यवनप्राश, मुक्तापञ्चामृत मे से किसी का प्रयोग किया जाता है।

अपस्मार (Epilepsy) रोग भी मस्तिष्क मे प्राणतत्व की निर्बलता और उसकी विक्षोभशीलता से होता है। उसके लिए सारस्वतघृत, कूष्माण्डघृत, शतावरीघृत, जीवनीयघृत, अश्वगन्धारिष्ट आदि के देने का विधान है।

स्मृति, बुद्धि, प्रसाद आदि की मन्दता (Depression) भी मस्तिष्क के प्राणतत्व की न्यूनता के सूचक होते है। इनके लिए भी बादाम रोगन, बादाम और पांचो मगज के देने या सारस्वतघृत, बृहदश्वगंधाघृत, च्यवनप्राश तथा हरड-आवले के मुरब्वे देने का विधान है। माषतैल, नारायणतैल आदि के नस्य से भी लाभ होता है।

तिमिर या दृष्टिनैर्बल्य का रोग द्वितीय मस्तिष्क नाडी के या Retina के प्राणतत्व की निर्बलता से हो तो त्रिफला क्वाथ मे घृत-मधु डालकर देने या त्रिफला, मधुयष्टी, वंशलोचन के घृत मधु के साथ देने या महात्रिफलाघृत या चन्द्रप्रभा, लक्ष्मीविलास, बृहदश्वगधाघृत के देने से लाभ होता है। माषतैल या नारायणतैल का नस्य भी दिया जाता है।

बाधिर्य, कर्णनाद तथा शिरोभ्रम के रोग मस्तिष्क अष्टमनाडी मे प्राणतत्व की निर्बलता के सूचक होते हैं। इनके किए भी सारस्वतघृत, शतावरीघृत, बृहदश्वगधाघृत, चन्द्रप्रभा का तथा नारायणतैल, मापतैल, षड्बिन्दुतैल आदि का नस्य द्वारा प्रयोग किया जाता है।

बालो के गिरने या समय से पहले श्वेत हो जाने का रोग भी रोमकूपो मे प्राणतत्व की न्यूनता का सूचक है। उनके लिए भी भृङ्गराज तेल या

मालात्यादि तेल मला जाता तथा भृंगराज तेल, षड्बिन्दुतैल, घृत आदि का नस्य दिया जाता है। बृहदश्वगंधाघृत तथा त्रिफलाघृत खिलाया जाता है। पलित के लिए सिहनाद गुग्गुलु भी हितकर है।

कम्प (Tremors) का रोग भी मस्तिष्क के Basal ganglia मे उनके प्राणतत्व के क्षीण हो जाने से होता है। इसके लिए महारास्नादि क्वाथ, अश्वगंधारिष्ट के देने का तथा नारायणतैल माषतैल आदि के मुख द्वारा तथा नस्य के द्वारा देने का विधान है।

शुक्र तथा आर्तव सम्बन्धी वातरोग जो अण्डग्रन्थि और डिम्बग्रन्थि के प्राणतत्व की निर्बलता के कारण होते है तथा वृद्धावस्था के वातिक रोग भी ऐसी वायुशामक औषधियो से जैसे च्यवनप्राश, चन्द्रप्रभा, दशमूलारिष्ट, अश्वगंधारिष्ट, बृहद्वातचिन्तामणि, वसन्तकुसुमाकर, लक्ष्मीविलास, फलघृत, बृहदश्वगंधाघृत आदि से शान्त रहते है।

रक्तभार वृद्धि (B. P) का रोग चिन्ताशीलता, आवेशप्रधानता, अव्यायाम और आहार की अधिकता से होता है। अतः आहार को कम करके पक्तिकर्म को बढाना चाहिए। मृदु व्यायाम करना चाहिए, मालिश करनी चाहिए, प्रसन्न रहने का यत्न करना चाहिए। त्रिफला और सर्पगंधा समभाग के चूर्ण के अनुपान से चन्द्रप्रभा गुग्गुलु का सेवन करना चाहिये।

इस प्रकार उपर्युक्त त्रैदोषिक दृष्टि से रोगनिदान करने तथा चिकित्सा करने की पद्धति को आयुर्वेदिक पद्धति कहते है।

प्राचीन विधियो के अतिरिक्त किसी नवीन विधि से भी चाहे रोगनिदान किया जाए और प्राचीन औषधियो के अतिरिक्त किन्ही नवीन औषधियो और उपायो का भी चिकित्सा मे प्रयोग किया जाए पर जब रोग का अध्ययन और उसके लिए औषधि का विनियोग त्रैदोषिक दृष्टि से किया जाता है तो उसे आयुर्वेद कहते है।

उदाहरणतः आधुनिक विधियो से मल, मूत्र, रक्त आदि की परीक्षा की जाय, अङ्गो की एक्सरे परीक्षा की जाय और इनसे जो कुछ पता चले उसका त्रैदोषिक

दृष्टि से अध्ययन किया जाए और चिकित्सा मे भी चाहे विद्युत् के उपकरणो का, कृत्रिम विटामिनो का, आक्सिजन का, रक्तदान आदि का प्रयोग किया जाय या किसी यूनानी औषधि का प्रयोग किया जाय या प्राकृतिक चिकित्सानुसार शीतल-गीली मट्टी, गर्मवाष्प आदि का प्रयोग किया जाय पर यह सब त्रैदोषिक दृष्टि से किया जाय तो यह आयुर्वेदिक पद्धति कहाती है ।

सत्य तो यह है कि रोगनिदान करने की विधियाँ और चिकित्सा मे काम आनेवाली औषधियाँ और उपाय देश-कालानुसार बदलते रहते है और बदलते रहेगे । इसलिए किसी एक औषधि समूह को आयुर्वेद न कहकर आयुर्वेद की अतिप्राचीन काल से आज तक समान भाव से चली आ रही त्रैदोषिक दृष्टि को ही आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति कहते है । जिस चिकित्सा मे त्रैदोषिक दृष्टि को प्रधानता दी जाती है उसे आयुर्वेद कहते है । इस चिकित्सा मे रोग के बाह्य कारणो को गौण दृष्टि से देखा जाता है, यद्यपि उनका निराकरण करना भी इस चिकित्सा के विपरीत नही है ।

इस त्रैदोषिक दृष्टि या त्रैदोषिक चिकित्सा पद्धति के प्रतिपादन करनेवाले, चरक–सुश्रुत–अष्टाङ्गहृदय आदि ग्रन्थो मे पाए जानेवाले वाक्यो का संग्रह इस ग्रन्थ मे किया गया है जिससे इसका नाम 'त्रिदोषसंग्रह' रखा है ।

इस त्रैदोषिक दृष्टि की व्याख्या करने के लिये लेखक ने पहले सस्कृत भाषा मे 'त्रिदोपविमर्श' नामक एक ग्रन्थ लिखा था । फिर इसी त्रिदोष पद्धति की व्याख्या करते हुए लेखक ने 'Ayurvedic interpretation of medicine' नामक एक ग्रन्थ आग्ल, भाषा मे लिखा था, पर उन दोनो ग्रन्थो मे आयुर्वेदिक ग्रन्थो मे लिखे त्रैदोषसम्बन्धी वाक्य नही आ सके थे इसलिए चरक-सुश्रुत आदि के त्रिदोषसम्बन्धी मूलवाक्यो का संग्रह करने के लिए यह ग्रन्थ लिखना आवश्यक प्रतीत हुआ ।

मै इसे आयुर्वेद के अध्ययन-अध्यापन करनेवालो के हाथो मे सादर समर्पित करता हूँ ।

चौखम्बा संस्कृत सीरीज तथा चौखम्बा विद्याभवन के संचालको की कृपा से यह 'त्रिदोषसंग्रह' नामक ग्रन्थ सर्वांगपूर्ण होकर प्रकाशित हो सका है इसके लिए मै उनका बडा आभारी हूँ।

यहा भूमिका समाप्त करने से पहले पाठको को लेखक का कुछ परिचय देना अप्रासगिक न होगा। वह लायलपुर जिले मे जो अब पाकिस्तान मे है उत्पन्न हुआ। गुरुकुलविश्वविद्यालय हरद्वार मे १४ वर्ष पढकर उसने १९१७ में विद्यालंकार और सिद्धान्तालंकार ये दो उपाधिया प्राप्त की। फिर मद्रास आयुर्वेद कालेज, मद्रास मे ४ वर्ष पढकर १९२१ मे उसने आयुर्वेदाचार्य उपाधि प्राप्त की। १९२२ से १९४३ तक उसने गुरुकुल आयुर्वेदकालेज मे अध्यापन कार्य किया। वहा से निवृत्त होकर अब वह कनखल मे चिकित्सा वृत्ति कर रहा है। इस प्रकार चिकित्सा जगत् मे प्रवेश किए उसे ५० वर्ष हो चुके हैं। १९६७ मे हैदराबाद की आयुर्वेद एकाडमी ने उसे आयुर्वेदमहोपाध्याय की उपाधि प्रदान की। उसका लिखा 'आधुनिक चिकित्सा शास्त्र' नामक ग्रन्थ १९६६ मे प्रकाशित हुआ और चिकित्सको तथा आयुर्वेद के छात्रो मे सर्वप्रिय हुआ।

कनखल (हरद्वार)
२ अगस्त १९६८

धर्मदत्तवैद्य

विषय-सूची

त्रिदोषसंग्रहः

'विद्योतिनी' हिन्दी व्याख्योपेतः

तत्र पञ्चमहाभूतविषयकः प्रथमोऽध्यायः

(पञ्चमहाभूतविषयक पहला अध्याय)

अष्टौ भूतप्रकृतयः षोडश विकारा इत्येवं चतुर्विंशति तत्त्वानि भवन्तीत्युच्यते—

२४ तत्त्वों में से ८ मूलतत्व १६ विकृतितत्व हैं—

(१)

(१) सर्वभूतानां कारणमकारणं, सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तं नाम। (सु. शा. १)

जो उत्पन्न होनेवाले सर्वपदार्थों का स्वयं कारण है, जिसका आगे कोई कारण नहीं है, जो सत्व-रजस्-तमोरूप है, तथा जो अष्टरूप है (अर्थात् अव्यक्त, महान्, अहंकार तथा पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाशतत्त्व इन आठ रूपो वाला है) उसे अव्यक्त (Primordial matter) कहा जाता है।

(२) अव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव। तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लिङ्ग एव अहंकार उत्पद्यते। (सु. शा. १)

अव्यक्ततत्व से महत्तत्व (बुद्धितत्व) उत्पन्न होता है। महत्तत्व से अहंकार (व्यक्ति भाव) उत्पन्न होता है। अव्यक्त तत्व में से पहले उसी के लक्षणों वाला अर्थात् सत्वरजस्तमोरूप बुद्धितत्व या महत्तत्व उत्पन्न होता है। फिर सत्वरजस्तमोरूप बुद्धितत्व से सत्व-रजस्तमोरूप अहंकार या व्यक्तिभाव (Individuality) उत्पन्न होता है।

(३) स चाहंकारस्त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति। तत्र वैकारिकादहंकारात्, तैजससहायात्तल्लक्षणान्येव एकादश

इन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते । तद्यथा—श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपादमनांसि । तत्र पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । इतराणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि । उभयात्मकं मनः ।

यह व्यक्तिभाव या अहंकार तीन प्रकार का है—(क) वैकारिक अहंकार या विकार-द्रव्योत्पादक अहंकार; (ख) तैजस अहंकार अर्थात् तेजोमय अहंकार; (ग) भूतादि अहंकार या भूतारम्भक अहंकार ।

इनमें से वैकारिक अहंकार या वैकारिक व्यक्तिभाव से तैजस-अहंकार की सहायता से सत्वरजस्तमोरूप ११ इन्द्रियतत्व अर्थात् श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, रसन, और घ्राण आदि विषयों के ग्रहण करने के साधनभूत पञ्चज्ञानेन्द्रिय तत्व (Sensory organs) और भाषण, ग्रहण, गमन, मल-मूत्र-विसर्जन, मैथुन आदि के साधनभूत पञ्चकर्मेन्द्रिय तत्व (motor organs) तथा ज्ञान और कर्म (Sensation and motion) दोनों का साधनभूत मनस्तत्व उत्पन्न होते हैं ।

(४) भूतादेरपि तैजससहायात्तल्लक्षणान्येव पञ्चतन्मात्राण्युत्पद्यन्ते । तद्यथा—शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रमिति । तेषां विशेषाः शब्दस्पर्शरूपरसगंधाः । तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानलजलोर्व्यः । एवमेषा तत्त्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता । सर्व एवैते विशेषाः सत्त्वरजस्तमोमया भवन्ति । (सु. शा. १)

भूतादि अहंकार (भूतारंभक अहंकार) से भी तैजस अहंकार की सहायता से सत्वरजस्तमोरूप पञ्चतन्मात्र अर्थात् शब्द-तन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र, रूप-तन्मात्र, रस-तन्मात्र, गन्ध-तन्मात्र ये उत्पन्न होते हैं । इनकी विशेषतायें क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये पाँच इन्द्रियार्थ हैं । इन शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि पञ्चतन्मात्रों से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तत्व उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार ये २४

तत्व (अव्यक्त, महत्तत्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्र, पञ्चभूत, ११ इन्द्रियतत्व) हैं जो सभी सत्वरजस्तमोरूप हैं।

(५) एषामव्यक्तं महानहङ्कारः, पञ्चतन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः शेषाः षोडश विकाराः। (सु. शा. १)

सुश्रुत मत से अव्यक्त, महत्तत्व, अहंकारतत्व, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध-तन्मात्र ये आठ भूत प्रकृति हैं। शेष १६ विकार द्रव्य हैं।

(६) अव्यक्तान्महान् , महतोऽहङ्कारः, अहंकारात्खादीनि, ता अष्टौ भूतप्रकृतयः। (काश्यप संहिता)।

काश्यप के मत से अव्यक्त से महत्तत्व, उससे अहंकार तत्व तथा उससे आकाश, वायु, अग्नि, अप् और पृथ्वी तत्व ये आठ भूत-प्रकृति कहाते हैं।

(७) चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि। हस्तौ पादौ जिह्वा गुदोपस्थमिति पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा पञ्चेन्द्रियार्थाः। अतीन्द्रियं मनः। इत्येते षोडश विकाराः। (का. संहिता)

पाँच ज्ञानेन्द्रियतत्व, पाँच कर्मेन्द्रियतत्व, अतीन्द्रिय मन तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये पाँच इन्द्रियों के विषय सब सोलह विकार द्रव्य कहाते हैं।

(२)

पञ्चभूतानां क्रमोत्पत्तिमाह क्षेत्रक्षेत्रज्ञभेदञ्च—

पञ्चभूतों की क्रमिक उत्पत्ति तथा क्षेत्रक्षेत्रज्ञभेद—

(८) तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथ्वीति। (छान्दोग्य.)

आत्मतत्व से आकाशतत्व, आकाश से वायुतत्व, वायु से अग्नितत्व, अग्नि से अप्-तत्व, अप् से पृथ्वीतत्व उत्पन्न होते हैं।

(९) महदादि सर्वं क्षेत्रमाचक्षते। क्षेत्रज्ञं तु शाश्वतमचिन्त्यमात्मानमाहुः। (का. संहिता)

इन महत्तत्वादि २४ तत्वों के विस्तार को क्षेत्र कहते हैं (जैसे गीता अ० १३ में कहा है—महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः। इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः। एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्) तथा नित्य और अज्ञेय आत्मतत्व को क्षेत्रज्ञ कहा है।

(३)

सत्त्वरजस्तमोलक्षणमुच्यते—

सत्त्व, रजस्, तमस् के लक्षण—

(१०) तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्॥

सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण बुद्धि का प्रकाशक होता और तन-मन दोनों के लिये आरोग्यकारक होता है। मनुष्य को सुख (शान्ति) और ज्ञान प्रदान करता है, रजोगुण रागात्मक है, तृष्णावश बढ़ता है, मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करता है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत!।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ! ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥

तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है। प्राणियों में मोह (अज्ञान-भ्रम-Delusion) को उत्पन्न करता है। मनुष्य को प्रमाद, आलस्य, निद्रा आदि लक्षणों से युक्त करता है। सत्वगुण मनुष्य को सुख से, रजोगुण मनुष्य को कर्म से और तमोगुण ज्ञान को दबाकर मनुष्य को प्रमाद से युक्त करता है। किसी में तो रजोगुण और तमोगुण दोनों को दबाकर सत्वगुण ऊपर आ जाता है। किसी में रजोगुण और सत्वगुण इन दोनो को दबाकर तमोगुण ऊपर आ जाता है। किसी में तमोगुण और सत्वगुण इन दोनो को दबाकर रजोगुण ऊपर आ जाता है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ! ॥

जब किसी के सर्व द्वारों में प्रकाश छाया हो तथा जब मन में ज्ञान विद्यमान हो तब समझना चाहिये कि उसमें सत्वगुण बढ़ा हुआ है। जब मनुष्य में लोभ, प्रवृत्ति, अतिकर्मण्यता, बेचैनी और तृष्णा के भाव बढ़े हुए हों तो समझना चाहिये उसमें रजोगुण बढ़ा हुआ है।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ! ॥

(गीता अ. १४)

जब मनुष्य के हृदय में अप्रकाश (ज्ञान का अभाव) हो, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह (Delusion या निद्रा तन्द्रा) के भाव बढ़े हुए हों तो समझना चाहिये उसमें तमोगुण बढ़ा है (जब मनुष्य के मानस

(१६) पृथ्वी-अप्-तेजो-वाय्वाकाशानां समुदायात्सर्वद्रव्याभिनिर्वृत्तिः । (सु. सू. ४१)

पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश इनके एकत्रित होने से संसार के सब द्रव्य बने हैं।

(१७) द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे । तच्चेतनावदचेतनञ्च । (च. सू. २६)

इस आयुर्वेद शास्त्र में चेतन तथा अचेतन दोनों द्रव्य पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न हुए माने जाते हैं।

(१८) तेषां सत्त्वबहुलमाकाशम् । रजोबहुलो वायुः । सत्त्वरजोबहुलोऽग्निः । सत्त्वतमोबहुला आपः । तमोबहुला पृथ्वी । (सु. शा. १)

इनमें से आकाशतत्व सत्वगुणप्रधान है। वायुतत्व रजोगुणप्रधान है। अग्नितत्व सत्व एवं रजोगुणप्रधान है। अप्तत्व सत्व और तमोगुणप्रधान है। पृथ्वीतत्व तमोगुणप्रधान है।

(१९) किञ्च पञ्चभूतानां लक्षणानि—खस्य अप्रतिघो लिङ्गम् । वायोश्चलनम् । तेजस औष्ण्यम् । अपां द्रवत्वम् । पृथिव्याः स्थैर्यम् । (का. सं. १)

पचमहाभूतों का लक्षण—आकाश का लक्षण अवकाश है। वायु का लक्षण गति है। अग्नि का लक्षण ऊष्मा है। जल का लक्षण द्रवता (Liquidity) है। पृथ्वी का लक्षण स्थिरता है।

(२०) शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकम् समयोगवाहि । (च. शा. ६)

अत एव षड् धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते ।
(च. शा. ५)

चेतन का निवासस्थानभूत यह शरीर पञ्चमहाभूतों से बने नाना विकार द्रव्यों के ठीक ठीक अनुपात में मिलने से बनता है । ये छः धातु एकत्रित होकर 'पुरुष' ऐसा कहाते हैं ।

(२१) पुरुषस्य पृथ्वी मूर्तिः । आपः क्लेदः । तेजोऽभिसन्तापः । वायुः प्राणः । वियत् सुषिराणि । ब्रह्म अन्तरात्मा ।
(च. शा. ५)

पुरुष में जो मूर्तभाव है वह पृथ्वी (Solidity) है; जो आर्द्रता (Liquidity) का भाव है वह अप् तत्व है । जो ऊष्मा का भाव है वह तेजस्तत्व है । जो प्राण है वह वायु तत्व है । जो अवकाश है वह आकाश तत्व है । जो अन्तरात्मा है वह ब्रह्मतत्व है ।

(२२) पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मको गर्भः चेतनाधिष्ठानभूतः । स ह्यस्य षष्ठो धातुरुक्तः । अस्याङ्गावयवाः महाभूतविकारा एव ।

चेतन का अधिष्ठानभूत जो गर्भ है उसके अंग-प्रत्यंग पञ्चमहाभूतों के विकार हैं । आत्मा छठा धातु है ।

(२३) किञ्च तत्रास्य आकाशात्मकः शब्दः, श्रोत्रम्, लाघवम्, सौक्ष्म्यम्, विवेकश्च (विविक्तता) ।

गर्भ शरीर में जो श्रवणेन्द्रिय है, उसका विषय शब्द है, उसमें जो लघुता, सूक्ष्मता और अवकाश के भाव हैं, ये आकाशात्मक हैं ।

(२४) वाय्वात्मकं स्पर्शः, स्पर्शनम्, रौक्ष्यम्, प्रेरणम्, धातुव्यूहनम्, चेष्टाश्च शारीर्यः ।

उसमें जो स्पर्शनेन्द्रिय है, स्पर्शन का विषय स्पर्श है जो रूक्षता का भाव, प्रेरणा का भाव, धातुओं को यथास्थान स्थापित करने का भाव, तथा नाना चेष्टायें हैं ये सब वायुतत्वात्मक हैं।

(२५) अग्न्यात्मकं रूपम् , दर्शनम् , प्रकाशः, पक्तिः, औष्ण्यञ्च।

उसमें जो दर्शनेन्द्रिय है, दर्शन का विषय रूप है, प्रकाश का भाव, पचन का भाव, उष्णता का भाव है, ये सब अग्नितत्वात्मक हैं।

(२६) अबात्मको रसः, रसनम् , शैत्यम् , मार्दवम् , स्नेहः, क्लेदश्च।

उसमें जो रसनेन्द्रिय है, रसना का विषय रस है, शीतता का भाव, मृदुता का भाव, स्निग्धता का भाव, आर्द्रता का भाव है, ये सब अप्तत्वात्मक है।

(२७) पृथिव्यात्मकं गन्धो, घ्राणम् , गौरवम् , स्थैर्यं, मूर्तिश्चेति। (च. शा. ४)

उसमें जो घ्राणेन्द्रिय है, घ्राण का विषय गंध है, गुरुता का भाव, स्थिरता का भाव तथा मूर्तता का भाव है, ये सब पृथ्वीतत्वात्मक हैं।

(२८) किञ्च शरीरे यद्विशेषतः स्थूलं, स्थिरं, मूर्तिमत् , गुरु-खर-कठिनमङ्गम् , नखास्थि-दन्त-मांस-चर्म-वर्चः-केश-श्मश्रु-लोम-कण्डरादि तत् पार्थिवम्। गन्धो घ्राणञ्च।

शरीर के जिन अंगों में स्थूलता, स्थिरता, मूर्तता, गुरुता, खरता, कठिनता आदि लक्षण विशेष पाये जाते हैं जैसे—नख, अस्थि, दन्त, मांस, चर्म, वर्चस् , केश, श्मश्रु, लोम, कण्डरा आदि आदि हैं वे पृथ्वीतत्वप्रधान हैं। घ्राणेन्द्रिय तथा उसका विषय घ्राण या गन्ध भी पार्थिव हैं।

(२९) यद्द्रव-सर-मन्द-स्निग्ध–मृदु-पिच्छिल-रस–रुधिर-वसा-कफ-पित्त-मूत्र-स्वेदादि तदाप्यम् । रसो रसनञ्च ।

शरीर के वे भाव जिनमें द्रवता, सरता, मन्दता, स्निग्धता, मृदुता, पिच्छिलता के भाव विशेष हैं जैसे अन्नरस, रुधिर, वसा, कफ (Mucus), पित्त (Bile), मूत्र, स्वेद आदि ये अप्तत्वप्रधान हैं। रसनेन्द्रिय तथा उसका विषय रस भी आप्य हैं।

(३०) यत्पित्तम् , ऊष्मा च यो, या च भाः शरीरे, तत्सर्वमाग्नेयम् । रूपं दर्शनञ्च ।

शरीर में जो पित्ताग्नि है, ऊष्मा है, जो चमक या प्रकाश है ये आग्नेय भाव हैं।

(३१) यदुच्छ्वास–प्रश्वासोन्मेष–निमेषाकुञ्चन–प्रसारण-गमन-प्रेरण-धारणादि तद्वायवीयम् । स्पर्शः स्पर्शनञ्च ।

शरीर में जो उच्छ्वास, प्रश्वास, उन्मेष, निमेष, आकुञ्चन (Contraction), प्रसारण (Extension), गमन, प्रेरण, धारण (Support) आदि क्रियायें हैं ये सब वायु तत्व का परिणाम हैं। स्पर्शनेन्द्रिय तथा उसका विषय स्पर्श है, ये भी वायव्य हैं।

(३२) यद्विविक्तं यदुच्यते महान्ति चाणूनि स्रोतांसि तदाकाशीयम् । शब्दः श्रोत्रञ्च ।

शरीर में जो रिक्त स्थान हैं, जो छोटे-बड़े स्रोतस् हैं ये आकाश का परिणाम हैं । श्रवणेन्द्रिय तथा उसका विषय शब्द भी आकाशीय हैं।

(३३) यत्प्रयोक्तृ तत्प्रधानम् । बुद्धिर्मनश्च । (च. शा. ७)

इस शरीर के संचालक को प्रधान तथा बुद्धि और मन को भी प्रधान कहते हैं।

(३४) किञ्च गर्भस्य खलु शब्दश्च, श्रोत्रं च, लाघवञ्च,

सौक्ष्म्यञ्च, विवेकश्च, मुखञ्च, कण्ठश्च, कोष्ठश्च आकाशात्मकानि भवन्ति।

गर्भ शरीर में जो श्रोत्रेन्द्रिय है उसका विषय शब्द है तथा शरीर में जो लघुता, सूक्ष्मता, रिक्तता के भाव हैं जैसे—मुख, कण्ठ, कोष्ठ, आदि में पोल है ये सब आकाशात्मक हैं।

(३५) स्पर्शश्च, स्पर्शनञ्च, रौक्ष्यञ्च, प्रेरणञ्च, धातुव्यूहनञ्च, प्राणश्च, अपानश्च, शरीरचेष्टाश्च वाय्वात्मकानि।

उसमें जो स्पर्शनेन्द्रिय है उसका विषय जो स्पर्श है तथा शरीर में जो रूक्षता, प्रेरकता, धातुओं को यथास्थान यथाविधि स्थापित करने की व्यवस्था है, प्राण है, अपान है, तथा नाना प्रकार की जो चेष्टायें हैं ये सब वाय्वात्मक हैं।

(३६) रूपञ्च, चक्षुश्च, प्रकाशश्च, पित्तञ्च, पक्तिश्च, ऊष्मा च, शरीरवृद्धिश्च (?) तैजसानि भवन्ति।

गर्भ शरीर में जो दर्शनेन्द्रिय है, उसका विषय रूप है तथा जो प्रकाश है, पित्ताग्नि है, पक्ति कर्म है, ऊष्मा है, तथा शरीर की वृद्धि का भाव है (अग्नि का कार्य पचन है वृद्धि नहीं, अतः यहाँ मूल ग्रन्थ के पाठ में कुछ अशुद्धि हो गई प्रतीत होती है) ये सब आग्नेय भाव है।

(३७) रसश्च, रसनञ्च, शैत्यञ्च, मार्दवञ्च, द्रवश्च, स्नेहश्च, क्लेदश्च, श्लेष्मा च, मेदश्च, रक्तञ्च, मांसञ्च, शुक्रञ्च, आप्यानि भवन्ति।

उसमें जो रसनेन्द्रिय है, उसका विषय रस है तथा शरीर में जो शीतता, मृदुता, द्रवता, स्निग्धता, आर्द्रता के भाव हैं, जो कफ तत्त्व है, जो मेदा, रक्त, मांस तथा शुक्र हैं ये सब अप्तत्वप्रधान हैं।

(३८) गन्धश्च, घ्राणञ्च, गौरवञ्च, स्थैर्यञ्च, मूर्तिश्च, पार्थिवानि भवन्ति। तस्मात्पुरुषो लोकसम्मितः। (का. संहिता)

गर्भ शरीर में जो घ्राणेन्द्रिय है, उसका विषय गंध है तथा उसमें जो गुरुता, स्थिरता, मूर्तता के भाव हैं ये सब पार्थिव हैं।

(३९) तत्र गर्भं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति, तेज एनम्पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथ्वी संहन्ति, आकाशं विवेचयति।

(सु. शा. ५)

चेतनाविष्ठित गर्भ शरीर में वायु तो विभजन का कार्य करता है। अग्नि उसे पचाने का कार्य करती है। अप् तत्व उसे आर्द्र रखने का कार्य करता है। पृथ्वी तत्व उसे संहत या ठोस करने का कार्य करता है। आकाश उसमें पोल के बनाने का कार्य करता है।

(६)

द्रव्यस्य गुण-रस-पाकज्ञानेन तदारम्भकप्रधानभूतस्य परिज्ञानं भवतीत्याह—

द्रव्य के गुण-रस-पाक-ज्ञान से उसके आरंभक प्रधान महाभूत का ज्ञान होता है—

(४०) संग्राहकं द्रव्यसलिलगुणभूयिष्ठमनिलस्य शोषणात्मकत्वात्। अग्निदीपनमग्निगुणभूयिष्ठम्। लेखनमनिलानलगुणभूयिष्ठम्। बृंहणं पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठम्। तीक्ष्णोष्णगुणावाग्नेयौ। शीतपिच्छिलावम्बुगुणभूयिष्ठौ। स्नेहः पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठः। मृदुत्वं तोयाकाशगुणभूयिष्ठम्। रौक्ष्यं वायुगुणभूयिष्ठम्। वैशद्यं क्षितिसमीरणगुणभूयिष्ठम्। (सु. सू. ४१)

द्रव्य में संग्राही गुण को देखकर उसमें शोषण गुण वायु तत्व की अधिकता का पता लगता है। वह अग्निदीपक हो तो उसमें अग्नि-तत्व की अधिकता कही जाती है। वह लेखन गुण (कफ आदि को उखाड़ कर फेंकने वाला) हो तो उसमें वायु और अग्नितत्व की अधिकता

की कल्पना की जाती है। वह बृंहण गुण हो तो उसमें पृथ्वी और अप्तत्व की अधिकता जानी जाती है। वह तीक्ष्ण एवं उष्ण गुण हो तो उसमें अग्नितत्व की अधिकता की कल्पना की जाती है। वह शीत और पिच्छिल गुण हो तो उसमें जल तत्व की प्रधानता मानी जाती है। उसमें स्नेहन गुण हो तो उसमें पृथ्वी और अप् तत्व की अधिकता की, मृदुता का गुण हो तो उसमें अप् तत्व और आकाश तत्व की अधिकता की, रूक्षता का गुण हो तो वायुतत्व की अधिकता की, विशदता का गुण हो तो पृथ्वी और वायुतत्व की अधिकता की कल्पना की जाती है।

(४१) भूम्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरः। भूम्यग्निगुणबाहुल्यादम्लः। तोयाग्निगुणबाहुल्याल्लवणः। वाय्वग्निगुणबाहुल्यात्कटुकः। वाय्वाकाशगुणबाहुल्यात्तिक्तः। पृथिव्यनिलगुणबाहुल्यात्कषायः इति। (सु. सू. ४०)

मधुर रस को देख कर द्रव्य में पृथ्वी और अप्तत्व की अधिकता की, अम्लरस को देख कर उसमें पृथ्वी और अग्नितत्व की अधिकता की, लवणरस को देखकर उसमें अप्तत्व और अग्नितत्व की अधिकता की, कटुरस को देखकर उसमें वायु तत्व और अग्नितत्व की अधिकता की, तिक्त रस को देखकर उसमें वायु और आकाश तत्व की अधिकता की, तथा कषाय रस को देखकर उसमें पृथ्वी और वायु तत्व की अधिकता की कल्पना की जाती है।

(४२) द्विविधः पाको मधुरः कटुकश्च। तयोर्मधुराख्यो गुरुः। कटुकाख्यो लघुरिति। पृथिव्यापश्च गुर्व्यः शेषाणि लघूनि।

पचने के बाद द्रव्य का मधुर अथवा कटु दो प्रकार का रस हो जाता है। इस प्रकार द्रव्य को मधुरपाकी देख कर उसके गुरु गुण होने, तथा कटुपाकी को देखकर उसके लघुगुण होने, की कल्पना

की जाती है। गुरुगुण द्रव्य पृथ्वी अप्तत्व प्रधान, लघुगुणद्रव्य अग्नि-वायु आकाश तत्व प्रधान होते हैं।

(७)

ह्रासं गताञ्शरीरस्य पार्थिवादीन् भावान् पार्थिवादीन्याहारद्रव्याणि परिपूरयन्ति। वृद्धिं गतांश्च पार्थिवादीन् भावान् तद्विपरीतगुणान्याहारद्रव्याणि प्रति कुर्वन्तीत्याह—

शरीर में पार्थिव आदि कोई अंश न्यून हो जाय तो पार्थिव आदि द्रव्यों के प्रयोग से वह परिपूर्ण हो जाता है। यदि पार्थिव आदि कोई भाव बढ़ जाय तो अपने से विरुद्ध गुण वाले द्रव्यों के प्रयोग से वह शान्त हो जाता है।

(४३) यथा स्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक्।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः॥
(च. चि. १५)

द्रव्यों में विद्यमान पार्थिव, आप्य, आग्नेय, वायव्य, आकाशीय अंश क्रमशः शरीरावयवों के पार्थिव, आप्य, आग्नेय, वायव्य और आकाशीय अंशों को बढ़ाने का कार्य करते हैं।

(४४) समानैर्वृद्धिः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः। (वा. सू. १)

जहाँ ये समान की वृद्धि करते हैं वहाँ शरीर में बढ़े हुए पार्थिव, आप्य, आग्नेय, आदिभाव अपने से विपरीत गुण वाले द्रव्यों के सेवन से शान्त हो जाते हैं।

(८)

एतान्येव पञ्चमहाभूतानि चेतनशरीरे वातपित्तश्लेष्मेति नामभिरभिधीयन्ते। अत एव आयुर्वेदे वातपित्तश्लेष्माणः शरीरारम्भकाः शरीरकार्यसाधकाश्चोच्यन्ते—

शारीर शास्त्र में पञ्चमहाभूतों को ही वात, पित्त, कफ इन नामों से पुकारा जाता है। इन्हीं को शरीर का आरंभक तथा संचालक कहा जाता है :—

(४५) तत्र वायुर्वाय्वात्मा, पित्तमाग्नेयम्, श्लेष्मा सौम्यः। (सु. सू. ४२)

वायु, अग्नि और अप् तत्व शरीर में वायु, पित्त और कफ कहाते हैं।

(४६) तत्र वायोर्वायुः, तेजसः पित्तं, पृथिव्यम्भोभ्यां श्लेष्मेति। (अ. सं.)

वायु से वात, अग्नि से पित्त, पृथ्वी और जल तत्वों से कफ, उत्पन्न होता है।

(४७) किमाश्रय आयुर्वेद इति वातपित्तकफाश्रयः। ते च द्वे द्वे देवते श्रिताः। तद्यथा—मारुतमाकाशं च वातः श्रितः। अग्निमादित्यश्च पित्तम्, सोमं वरुणं च कफः। तास्तेषां देवताः। (का. संहिता)

आयुर्विज्ञान किस पर आश्रित है? वह वात-पित्त-कफ पर आश्रित है। इनमें से प्रत्येक २-२ देवताओं पर आश्रित है। वात-वायु और आकाश पर; पित्त-अग्नि और सूर्य पर; कफ—सोम और वरुण पर आश्रित हैं।

(४८) वातपित्तश्लेष्माण एव देहसंभवहेतवस्तैरेवाऽव्यापन्नैः शरीरमिदं धार्यते। त एव व्यापन्नाः प्रलयहेतवः। (सु. सू. २१)

वात, पित्त, कफ—देह की उत्पत्ति के कारण हैं। सम अवस्था में रहते हुए ये शरीर को कायम रखते हैं। विषम होकर ये मृत्यु का कारण हो जाते हैं।

(४९) सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणः, सर्वस्मिञ्छरीरेऽकुपिताः कुपिताः शुभाशुभानि कुर्वन्ति । प्रकृतिभूताः शुभान्युपचयबलवर्णप्रसादादीनि । अशुभानि पुनः विकृतिमापन्नानि विकारसंज्ञकानि । (च. सू. २०)

वात, पित्त, कफ सम्पूर्ण शरीरव्यापी हैं । सम अवस्था में ये शरीर को स्वस्थ रखते हैं, विषम होकर उसे रुग्ण कर देते हैं । प्राकृतिक अवस्था में रहते हुए ये स्वास्थ्य का कारण होते अर्थात् वृद्धि, बल, वर्ण और प्रसन्नता को कायम रखते हैं विकृत होकर ये अस्वास्थ्य का कारण हो जाते हैं अर्थात् रोगोत्पादक हो जाते हैं ।

(५०) नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात् ।
शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते ॥
(सु. सू. १५)

वात, पित्त, कफ और रक्त इनके विना शरीर नहीं रहता क्योंकि वह इन्ही पर आश्रित है ।

(५१) दोष-धातु-मल-मूलं शरीरम् ॥ (सु. सू. १५)

वात, पित्त, कफ ये तीन दोष; रस, रक्त, मांस, मेदा, मज्जा, अस्थि, शुक्र आदि धातु; और मल, मूत्र, स्वेद आदि मल ये शरीरके मूल हैं ।

(५२) विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा ।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा ॥ (सु. सू. २१)

जैसे अप्, अग्नि और वायु तत्व क्रमशः अपने विसर्ग कर्म (Constructive work), आदान कर्म (Destructive work) और अपने विक्षेप कर्म (Dynamic activity) के द्वारा जगत् को थाम्भे हुए हैं वैसे ही कफ, पित्त और वात क्रमशः अपने विसर्ग, आदान और विक्षेप कर्म के द्वारा शरीर को थांभे हुए हैं ।

(९)

शरीरस्य दूषकत्वाद्वातपित्तकफा एव शारीरदोषा उच्यन्ते, रजसस्तमसश्चैव मनोदूषकत्वाद्द्वौ मानसौ दोषावुच्येते ।

शरीर के दूषक होने से वात, पित्त, कफ ये तीन शरीर के दोष तथा सत्व, रजस्, तमस् में से रजस् तमस् ये दो मन के दोष कहाते हैं।

(५३) वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः ।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ।
प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः ।
मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः । (च. सू. १)

वात पित्त कफ विकृत होकर शरीर के दूषक हो जाते हैं। रजस् तथा तमस् ये दो मन के दूषक होते हैं। शरीर के दोष अर्थात् विकृत हुए वात, पित्त, कफ युक्तिपूर्वक प्रयुक्त की गई औषधियों से शान्त हो जाते हैं बशर्ते कि पूर्वकृत कर्म विपरीत न हों। रजस् व तमस् ये मानस दोष ज्ञान (आत्मज्ञान). विज्ञान (Intelligence या व्यावहारिक बुद्धि), धृति (वश्यता या Con trolling power या Firmness) स्मृति (पूर्वकृत अनुभवों का स्मरण) तथा समाधि (एकाग्रता की शक्ति के उदय) के द्वारा शान्त होते हैं।

इस प्रकार ५३ वाक्यों वाला 'पञ्चमहाभूतविषयक'
प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

वायुविषयको द्वितीयोऽध्यायः

(वायुविषयक दूसरा अध्याय)

(१)

धातुरूपस्य वायोः स्वरूपम्—

(१) 'वा' गतिगन्धनयोरिति धातुः। तस्य कृद्विहितेन प्रत्ययेन वात इति रूपं भवति। (सु. सू. २१)

धातुरूप वायु का स्वरूप—

गति अर्थक 'वा' इस धातु से 'क्त' प्रत्यय लगाने पर 'वात' इस शब्द की उत्पत्ति होती है (इसका अर्थ गतितत्व प्रतीत होता है।)

(२) वायुर्वाय्वात्मा। (सु. सू. ४२)

शरीरान्तर्गत वात, पञ्चभूतान्तर्गत वायु का ही एक रूप है।

लोकान्तर्गतस्य वायोः कर्माणि—

(३) प्रकृतिभूतस्य खल्वस्य लोके विचरतः कर्माणीमानि भवन्ति तद्यथा-धरणीधारणम्, ज्वलनोज्ज्वालनम्, आदित्यचन्द्रनक्षत्रग्रहगणानां सन्तानगतिविधानम्, सृष्टिश्च मेघानाम्, अपां विसर्गः, प्रवर्तनं स्रोतसाम्, पुष्पफलानाञ्चाभिनिर्वर्तनम्, उद्भेदश्चौद्भिदानाम्, ऋतूनां प्रविभागो, विभागो धातूनाम्, धातुमानसंस्थानव्यक्तिः, बीजाभिसंस्कारः, सस्याभिवर्धनम्, अविक्लेदोपशोषणे, अवैकारिकविकारश्चेति।

वायुर्हि भगवान्प्रभव, श्चाव्ययश्च, भूतानां भावाभावकरः, सुखासुखयोर्विधाता, मृत्यु, र्यमो, नियन्ता, प्रजापतिः, अदितिः,

विश्वकर्मा, विश्वरूपः, सर्वगः, सर्वतन्त्राणां विधाता, भावानामणुः, विभुः, विष्णुः, क्रान्ता लोकानां वायुरेव भगवानिति ।

शरीरान्तर्गतस्य वायोः कर्माणि— (च. सू. १२)

लोकान्तर्गत वायु के कर्म—

लोकान्तर्गत वायु के ये कर्म होते हैं जैसे पृथ्वी का थांमे रखना, अग्निका प्रज्वलित करना, सूर्य चन्द्र नक्षत्र तथा ग्रहों का निरन्तर गति कराना, मेघों की उत्पत्ति, जलो की उत्पत्ति, नदी आदि स्रोतों का बहाना, फूलों फलो का उपजाना, वनस्पतियो का अंकुरित करना, ऋतुओं का परिवर्तन करना, धातुओं का विभाग करना, धातुओ में मान (भार) और संस्थान (विशेषरचना या Disposition of atoms) का बनाना, बीजो का ठीक ठीक बनाना, अन्न को उपजाना (अभिवर्धन), उसे सड़ने व सूखने से बचाना, तथा प्रकृति में न बिगड़ने वाले विकार द्रव्यों का उत्पन्न करना ।

क्यों कि वायु एक ऐश्वर्यशाली पदार्थ है सबकी उत्पत्ति का स्रोत है, अनश्वर है, उत्पन्न होने वाले पदार्थों की उत्पत्ति तथा विनाश का कारण है, सुख (आरोग्य) और असुख (रोग) का कर्ता है, मृत्यु है, यम है, नियामक है, प्रजापति है, अदिति (माता) है, सबका घड़ने वाला है, सर्व विश्व इसी का रूप है (वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, कठ) सर्वगत है, सर्व शरीरो का घड़ने वाला है, अतिसूक्ष्म द्रव्य है, एक विभु द्रव्य है, विष्णु (सब कुछ को घेरे हुए) है, लोकलोकान्तरो में व्याप्त है (स्पष्ट है यहां सृष्टिगतगतितत्व Cosmic energy को वायु कहा है)

(४) वायुस्तन्त्र, यन्त्रधरः, प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानाम्, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः, संधानकरः शरीरस्य, प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिः

स्पर्शशब्दयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलम्, हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः, संशोषणो दोषाणाम्, क्षेप्ता बहिर्मलानाम्, स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनाम्, आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपित इति। (च. सू. १२)

प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान इन रूपों में यह वायु इस शरीर रूपी मशीन का संचालन करता है। यह शरीर की छोटी बड़ी सब चेष्टाओ को प्रवृत्त करता है। यह मन का नियामक और संचालक है। सर्व इन्द्रियों को अपने अपने कर्म में प्रवृत्त करता है। इन्द्रियो के विषयों (संज्ञाओं) का अभिवहन करता है। यह शरीर की सर्वधातुओं को यथा स्थान व्यवस्थित करता है। शरीर के विभिन्न भागों को एक दूसरे के साथ जोड़े हुए है। यह वाणी का प्रवर्तक है। त्वचा द्वारा स्पर्श ज्ञान होने और कानों द्वारा शब्द ज्ञान होने का कारण है (अर्थात्) श्रोत्रेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय का मूलकारण है। (मन के अन्दर विद्यमान) हर्ष और उत्साह का यह कारण है, यह पाचकाग्नि (पाचक रसों) को प्रवृत्त करता है, (शरीर में उत्पन्न हो जानेवाले) दोषों (Abnosmal metabolites) काशोषण करता है, (शरीर में उत्पन्न होने वाले) मलो को बाहिर फैंकने का काम करता है। शरीर में विद्यमान बड़े छोटे नाना प्रकार के स्रोतों का यह बनाने वाला है। गर्भ काल में यह उसकी आकृतियो का निर्माण करने वाला होता है। यही आयुष्य की विद्यमानता का प्रत्यायक (सूचक) होता है।

(५) प्राणिनां सर्वतो वायुश्चेष्टां वर्तयते पृथक्।
प्राणनाच्चैव भूतानां प्राण इत्यभिधीयते॥

वायु, प्राणियों की सर्वचेष्ठाओ का संचालक है। उनके श्वास प्रश्वास का कारण होने से इसे 'प्राण' कहा जाता है। (च. सू. १७)

(६) सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः ।

(च. सू. १७)

शरीर की सर्वचेष्टायें वायु के कारण होती हैं। वायु को प्राणियों का प्राण कहा जाता है ।

(७) उत्साहोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टा, धातुगतिः समा ।
समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माविकारजम् ॥

(च. सू. १८)

उत्साह, श्वासोच्छ्वास, नानाचेष्टायें, रसरक्तादिधातुओं की गति, मलमूत्रस्वेद आदि का ठीक ठीक प्रवर्तन ये सब अविकृत वायु के कारण होते हैं। (च. सू. १८)

(८) वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम् ।
वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्तितः ॥

(च. चि. २८)

वायु पर आयु और बलनिर्भर हैं, वायु ही प्राणियों का विधाता (बनाने वाला) है, यह सारा विश्व वायु का ही प्रपञ्च है, वायु इस (शरीर व विश्व) का प्रभु है ।

(९) स्वयम्भूरेष भगवान् वायुरित्यभिशब्दितः ।
स्वातन्त्र्यान्नित्यभावाच्च सर्वगत्वात्तथैव च ॥

यह ऐश्वर्यशाली वायु स्वयम्भू (स्वयं उत्पन्न) है स्वतन्त्र है (अर्थात् स्वयं शक्तिरूप है दूसरे से संचालित नही होता) नित्य है, (शरीर में या विश्व मे) सर्वगत है ।

(१०) सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्वलोकनमस्कृतः ।
स्थित्युत्पत्ति विनाशेषु भूतानामेषकारणम् ॥

यह शरीरो का आत्मा है, महान् है, प्राणियों की उत्पत्ति स्थिति और मृत्यु का कारण है ।

(११) अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च रूक्षः शीतो लघुः खरः ।
तिर्यग्गो द्विगुणश्चैव रजो बहुल एव तु ॥

यह वायु अव्यक्ततत्व है, हां इसके कर्मव्यक्त हैं, जब यह तिर्यक्गामी, द्विगुण व रजोगुण बहुल हो जाता है तब यह (शरीरमें) रूक्षता, शीतता, लघुता, खरता का कारण हो जाता है ।

(१२) अचिन्त्यवीर्यो, दोषाणां नेता, रोगसमूहराट् ।
आशुकारी मुहुश्चारी पक्काधानगुदालयः ॥

इसका बल अचिन्तनीय है, पित्त तथा कफ दोषों का यह नेता (सञ्चालक) है, अनेकानेक रोगों का कारण है, बड़ा शीघ्रकारी है (सहसा उत्पन्न होने वाले लक्षणों का उत्पादक है) बारबार (ठहर-ठहर कर) होने वाले दौरों का कारण है, पक्काशय तथा गुदा इसके विशेष स्थान हैं ।

(१३) देहे विचरतस्तस्य लक्षणानि निबोध मे ।
दोषधात्वग्निसमतां सम्प्राप्तिं विषयेषु च ॥
क्रियाणामानुलोम्यञ्च करोत्यकुपितोऽनिलः ।

(सु. नि. १)

देह में विचरता हुआ यह दोषों, धातुओ तथा पाचक रसो को सम (नार्मल) अवस्था में रखता है । इन्द्रियों से विषयो की प्रतीति तथा उनसे तदनुसार क्रियायें ठीक ठीक करता है ।

(१४) क्रियाणामप्रतीघातममोहं बुद्धिकर्मणाम् ।
करोत्यन्यान्गुणाँश्चापि स्वाः शिराः पवनश्चरन् ॥

(सु. शा. ७)

अपनी नाडियों में ठीक २ प्रकारसे विचरता हुआ वायु क्रियाओंको निर्वाधितरूपसे संपादित करता ' बुद्धि सम्बन्धी क्रियाओ (Sensation, mentation तथा t) में भी किसी प्रकार का मोह

(अज्ञान) नही होने देता तथा नाना अन्य प्रकारों से भी शरीर की सेवा करता है।

(१५) अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतौ स्थितः ।
वायुः स्यात्सोऽधिकं जीवेद्वीतरोगः समाः शतम् ॥
(च. चि. २८)

यदि वायु के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा या अवरोध न हो (नाडियो, रक्तवाहिनियों आदि में कोई अवरोधक कारण उत्पन्न न हो) वायु अपने स्थान पर स्थित रहे (अस्थान में चेष्टा होने का कोई कारण न हो) तथा वह अपनी प्राकृतिक स्थिति में बना रहे (अर्थात् शरीर का कोई अंग भी न तो अधिक विक्षोभशील–Excitable–होना ही अतिमन्द–Depressed–हो) तो ऐसा मनुष्य चिरायु होता और १०० वर्ष जीता है।

(२)

प्राणोदानसमानव्यानापानभेदात् पञ्चविधो वायुस्तेषां मूर्धगतं वायुम्प्राणमाचक्षत इत्याह—

प्राण, उदान, समान, व्यान, अपान भेद से यह वायु पांच प्रकार का होता है इनमें से मूर्धागत वायु को प्राण कहते हैं—

(१६) प्राणोदानसमानाख्यव्यानापानैः स पञ्चधा ।
देहे तन्त्रयते सम्यक् स्थानेष्वव्याहतश्चरन् ॥

प्राण उदान समान व्यान अपान आदि नामों से विचरने वाले इस वायु की व्याघातक कारणो से रक्षाकी जाय तो यह भली प्रकार शरीर का संचालन करता है।

(१७) स्थानं प्राणस्य मूर्धोरः कण्ठजिह्वास्यनासिकाः ।
ष्ठीवनक्षवथूद्गारश्वासाहारादिकर्म च ॥ (च. चि. २८)

प्राणवायु का स्थान मूर्धा, वक्षस् कण्ठ, जिह्वा, मुख, नासिका हैं आहारग्रहण, श्वासग्रहण, थूकना, छींकना, डकारना आदि इसके कार्य हैं।

(१८) प्राणोऽत्र मूर्धगः।

उरः कण्ठचरो बुद्धिहृदयेन्द्रियचित्तधृक्।

ष्ठीवनक्षवथूद्गारनिश्वासान्नप्रवेशकृत् ॥ (वा. सू. १२)

प्राण का स्थान शिर है। वहां से यह कण्ठ तथा वक्षस् तक सञ्चरण करता है। यह बुद्धि, हृदय (मस्तिष्क) इन्द्रियों और मनका धारक है। अन्नप्रवेश, श्वासप्रवेश, थूकने, छींकने, डकारनेका करने वाला है।

(१९) प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।

यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ॥ (च. सू. १७)

शिर, शरीर के सर्व अंगों में श्रेष्ठतर अंग है। प्राणोंका तथा सर्व (ज्ञान-कर्म) इन्द्रियोंका केन्द्र स्थान है।

(२०) हृदि[1] प्राण इति (शार्ङ्गधर)

हृदय (मस्तिष्क) में प्राण रहता है।

---

१. हृदयशब्देन बहुत्र मस्तिष्कमभिप्रेतं भवति तद्यथा—

(१) हृदयं चेतनाधिष्ठानम् (च शा. ७)

(२) बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य (च चि ९)

(३) हृदयं समुपाश्रित्य मनोबुद्धिवहाः सिराः।
दोषाः सन्दूष्य तिष्ठन्ति रजोमोहावृतात्मन ॥ (च चि. १०)

(४) अतिपीतेन मद्येन विहतेनोजसा च तत्।
हृदयं याति विकृतिं तत्रस्था ये च धातवः ॥ (च. चि. २४)

(५) हृदयं विशेषेण चेतनास्थानमतस्तस्मिंस्तमसाऽऽवृते सर्वप्राणिनः स्वपन्ति तथा—
पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्।
जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति ॥ (सु. शा ४)

अथ भाषणगीतादिप्रवर्तकं वायुमुदानमाचक्षत इत्याह—

भाषण सम्बन्धी प्रयत्न के कारणभूत वायु को उदान कहते हैं। जैसे—

---

(६) दिवा प्रबुध्यतेऽर्केण हृदयं पुण्डरीकवत्।
तस्मिन्विबुद्धे स्रोतांसि स्फुटत्वं यान्ति सर्वशः॥
रात्रौ तु हृदये म्लाने संवृतेष्वयनेषु च (च. चि. १५)

(७) षडङ्गमङ्गं विज्ञानं इन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्।
आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्॥
प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते।
तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः॥
हृदयं महदर्थस्तु तस्मादुक्तं चिकित्सकैः।
तस्योपघातान्मूर्च्छायं, भेदनान्मरणमृच्छति (च सू. ३०)

(८) रसवातादिमार्गाणा सत्त्वबुद्धीन्द्रियात्मनाम्।
प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते॥ (च चि. २४)

(९) हृदयान्मनः (मननम्)–(ऐतरेय।)

(१०) य एषोऽन्तर्हृदय आकाश। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः (तैतिरीय)

(११) सर्वासां विद्याना हृदयमेकायनम्। (बृहदारण्यक)

(१२) यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः॥ बृहदारण्यक)

(१३) हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनाम्। तासा शतं शतमेकैकस्याम्—आसु व्यानश्चरति (बृहदारण्यक)

(१४) तस्मादज्ञानसंभूत हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत (गीता ४)

(१५) सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

(१६) हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठ तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु (यजुर्वेद अ. ३४)

(१७) कारणं सर्वबुद्धीना चित्तं हृदयसंश्रितम्। भेलसंहिता (उन्मादे)

नोटः—उपर्युक्त टिप्पणीगत वाक्यो मे हृदय शब्द का अर्थ 'मस्तिष्क' ही होता है।

(१) उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः ।
तेन भाषितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते ॥ (सु. नि. १)

वक्षस् में स्थित, ऊपर कण्ठकी ओर गति करने वाले वायुको जिससे भाषण गीत आदि सम्पन्न होते हैं उदान वायु कहते हैं।

(२) उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कण्ठ एव च ।
(च. चि. २८)

उदान वायु का स्थान कण्ठ वक्षस् और नाभि हैं। (Vocal-cords तथा Larynx में adduction की क्रिया इसके कारण प्रतीत होती है)

अथ पाचकाग्निप्रवर्तकं वायुं समानमाचक्षत इत्याह—

पाचकाग्नि के प्रवर्तक वायु को समान वायु कहा है—

(३) आमपक्वाशयचरः समानो वह्निसंगतः ।
सोऽन्नं पचति तज्जाँश्च विशेषान्विविनक्ति हि ॥
(सु. नि. १)

आमाशयपक्वाशय में पाचकाग्नि के साथ रहनेवाले वायुको 'समान' कहा है वह अन्न को पचाता और अन्न जनित विशेषतत्वों का विवेचन करता है।

(४) अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थः समानोऽग्निबलप्रदः । (च. चि. २८)

अग्नि के साथ रहनेवाले तथा उसे बलदेनेवाले वायु को समान कहते हैं।

(५) समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः पवनेन तु ।
काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये ॥
(च. चि. १५)

समान वायु द्वारा प्रेरित हुई २ उदरस्थ अग्नि समय पर, सममात्रा

में लिये गये आहार को ठीक २ पचाती है और मनुष्य को दीर्घायु करती है।

अथ मलाशयमूत्राशय गर्भाशयादिगतं विक्षेपकं वायु मपानमाचक्षत इत्याह—

मलाशय, मूत्राशय, गर्भाशय आदि में स्थित विक्षेपक वायु को अपान कहते हैं—

(६) पक्काधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम् ।
समीरणः शकृन्मूत्र शुक्रगर्भार्तवान्यधः ॥

(सु. नि. १)

पक्काशय में रहने वाला वायु जो ठीक समय पर मल, मूत्र, शुक्र, गर्भ आर्तव आदि को नीचे की ओर प्रवृत्त करता है अपान वायु कहाता है।

अथ ऐच्छिकानैच्छिकमांसगतं विविधचेष्टासम्पादकं वायुं व्यानमाचक्षत इत्याह—

मांसगत चेष्टा सम्पादक वायुको व्यान कहते हैं—

(७) कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः ।
स्वेदासृक्स्रावणो वापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि ॥

(सु. नि. १)

रस रक्त स्वेदादि के बहाने वाले तथा नाना प्रकारकी (पञ्चविध) चेष्टाओं के सम्पादित करनेवाले सर्वशरीर व्यापी वायुको व्यान कहते हैं।

(८) व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा ।
युगपत्सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥ (वा. शा. ३)

व्यान वायु अपने विक्षेप कर्म से रक्त को लगातार शरीर में बहा रहा है।

(९) व्यानो हृदि स्थितःकृत्स्नदेहचारी महाजवः ।

(वा. सू. १२।६)

व्यान वायु हृदय (मस्तिष्क) में रहता है सारे शरीर में विचरता है और महावेगवान् है ।

(१०) गत्यपक्षेपणोत्क्षेपनिमेषोन्मेषणादिकाः ।

प्रायः सर्वाः क्रियास्तस्मिन् प्रतिबद्धाः शरीरिणाम् ॥

(वा. सू. १२)

गति, अपक्षेप, उत्क्षेप, निमेष, उन्मेष आदि शरीर में होने वाली (ऐच्छिक, अनैच्छिक) सर्व चेष्टायें व्यान वायु पर आश्रित हैं ।

(४)

वातवृद्धेः कारणानि कानीत्याह—

(१) क्षयः, स्थानं च, वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः ।

(च. सू. १७. ११२)

बात वृद्धि के कारण—
वात आदि दोषों की सम, वृद्धि या क्षय ये तीन अवस्था होती हैं

(२) दोषाः प्रवृद्धा स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम् ।

क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं, समाः स्वं कर्म कुर्वते ॥

(च. सू. १७. ६२)

सम अवस्था में दोष अपना काम ठीक ठीक करते हैं । बढ़ने पर वृद्धि के अनुसार इनके लक्षण प्रबल रूप में होते हैं । क्षीण होनेपर इनके लक्षणमन्द मन्दतर हो जाते हैं ।

(३) क्षयो वृद्धेस्तु पीडनः । (वा. सू. ११)

वृद्धि की अपेक्षा दोष का क्षय अधिक पीडाजनक होता है ।

(४) वृद्धिः पुनर्दोषधातुमलानां स्वयोनिवर्धनाभ्युपसेवनाद्भवति (सु. सू. १५)

इनके उत्पादक भूतों को शरीर में बढ़ाने वाले आहार विहार से इनकी वृद्धि होती है।

(५) वियत्पवनजाताभ्यां वृद्धिमाप्नोति मारुतः।

(सु. सू. ४१)

आकाश और वायु से उत्पन्न आहार तथा इनके वर्धक विहार से शरीर में वायु की वृद्धि होती है।

(६) कटुतिक्त कषायाश्च वातं जनयन्ति। (च. वि. १)

कटुतिक्त कषाय रस पदार्थ वायु के वर्धक होते हैं।

(७) रूक्ष-शीताल्प-लघ्वन्न-व्यवायातिप्रजागरैः।
विषमादुपचाराच्च दोषासृक्स्रवणादति॥
लंघनप्लवनाऽत्यध्व व्यायामादिविचेष्टितैः।
धातूनां संक्षयाच्चिन्ताशोकरोगातिकर्षणात्॥
दुःखशय्यासनात् क्रोधाद्दिवास्वप्नाद्भयादपि।
वेगसन्धारणा दामादभिघातादभोजनात्॥
मर्माघाताद्गजोष्ट्राऽश्वशीघ्रयानापतंसनात्।
देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली।
करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान्।

(च. चि. २८)

रूक्ष-शीत-लघु गुण आहारों के अतिसेवन, व्यवाय अति जागरण, विषमोपचार (कष्टदायक चिकित्सा) मल-मूत्र, रक्त-स्वेद आदि के अतिस्रवण, लंघन-प्लवन-अत्यध्वगमन तथा अन्य व्यायाम के अतिसेवन तथा किसी प्रकार की चेष्टा के अत्याधिक्य, शारीर धातुओंके क्षय,

चिन्ता व शोक के आधिक्य, किसीरोग के द्वारा अति कृश होजाने, कठोर कष्टदायक आसन व शय्या, क्रोध, अतिदिवास्वप्न, भय, मल मूत्रादि वेग धारण, आमदोषकी वृद्धि, भारी अभिघात, दीर्घलंघन, मर्मस्थानोंपर आघात, हाथी ऊंठ घोड़े तथा शीघ्रचलने वाली सवारियो पर से गिर जाने आदि से वायु वाहिनियों में चलने वाला वायु प्रकुपित होकर किसी एक अंग या सर्वाङ्ग में नानाप्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है।

(८) वात प्रकोपणानि भवन्ति खलु रूक्ष-लघु-शीत-दारुण-खर-विशद-सुपिरकराणि शरीराणाम्। तथाविधेषु शरीरेषु-वायुराश्रयं गत्वाऽप्याय्यमानः प्रकोपमापद्यते। (च. सू. १८)

जो भाव शरीरमें रूक्षता, लघुता, शीतता, दारुणता, खरता, विशदता, सुपिरताके लक्षणों को उत्पन्न करते हैं वे वात प्रकोपक कहाते हैं। यदि शरीर में ये दुर्लक्षण पहले से ही हों अर्थात् शरीर पहले ही वायुप्रकृति का हो तो इन लक्षणों को बढ़ाने वाले भावोंसे शरीर में वायु प्रकुपित हो उठता है।

(९) बलवद्विग्रहा-ऽतिव्यायाम-व्यवाया-ऽध्ययन-प्रपतन-प्रधावन-प्रपीडना-ऽभिघात-लंघन-प्लवन-तरण-रात्रिजागरण-भार हरण-गजतुरंगरथपदातिचर्या-कटु-कषाय-तिक्त-रूक्ष-लघु-शीत-वीर्य-तृणधान्य-मुद्ग-मसूरा-ढकी-हरेणु-कलाय-निष्पावा-ऽनशन-विषमाशना-ऽध्यशन-वात-मूत्र-पुरीष-शुक्र-छर्दि-क्षवथू-द्गार-बाष्प-वेग विधारणादिभिर्विशेषैर्वायुः प्रकोपमापद्यते[१]। (सु. सू. २१)

---

१. चरकने इसी को इस प्रकार कहा है :—

यदा पुरुषो वातलो विशेषेण ज्वरवमनविरेचनातिसाराणामन्यतमेन कर्शनेन कर्शितो, वातलमाहारमाहरति, शीत वा विशेषेण, अतिमात्रमुदीर्णान् वातमूत्रपुरीषवेगान् निरुणद्धि, अतिसंक्षोभिणा वा यानेन याति, अतिव्यवाय व्यायाम-मद्य-

अपने से बलवान् के साथ लड़ने या भारी झगड़ा करने, अति व्यायाम, अतिमैथुन, अतिअध्ययन, नीचे गिर पड़ने, अधिक दौड़ने, शरीर को अधिक कष्टदेने, चोट लगने, अधिक कूदने फांदने तैरने, अधिक रात्रि जागरण, अति भार उठाने, हाथी घोड़े रथ आदि पर या पैदल अधिक चलने, कटु कषाय तिक्त रस भोजनों या औषधियों के अतिसेवन, लघु-रूक्ष-शीत गुण आहार विहारों, तृणधान्य-मूंग-मसूर-अरहर-हरेणु-कलाय-निष्पाव (मटरी के समान शिम्बीधान्य) के अतिसेवन, सर्वथा अनशन, विषम अशन-अध्यशन के सेवन, वायु-मूत्र-मल-शुक्र-छर्दि-छींक-डकार-दुःख के वेगोको रोकने से वायु प्रकुपित होता है।

(१०) निशान्ते दिवसान्ते च वर्षान्ते वातजा गदाः ।

(च. चि. २८)

रात्रि के अन्तिम या दिन के अन्तिम या वर्षा के अन्तिम भाग में (निर्बलता के अधिक होने से) वातरोग होते हैं।

(११) सशीताऽभ्रप्रवातेषु घर्मान्ते च विशेषतः ।
प्रत्यूषस्य पराह्णे तु जीर्णेऽन्ने च कुप्यति ॥

(सु. सू. २१)

शीतलगने अर्थात् सहसा अभ्रआने या शीत वायु के लगजाने, ग्रीष्म ऋतु के समाप्ति काल में, दिन के अन्तिम काल में तथा अन्न के जीर्ण होजाने के बाद के काल में वायुका प्रकोप होता है।

(१२) बहूदक, निम्नोन्नत, नदीवर्षगहनो, मृदुशीतानिलो बहुमहापर्वतवृक्षो, मृदुसुकुमारोपचितशरीरमनुष्यप्रायः, कफवातरोगभूयिष्ठश्चानूपः । (सु. सू. ३५)

शोक-परिचर्वा भवति, अभिघातमृच्छति, विषमासनशयनस्थानचंक्रमणसेवी वा भवति, अन्यद्वा किञ्चिदेवंविधं, विषममतिमात्रं व्यायामजातमारभते तस्य तदपचाराद्वातः प्रकोपमापद्यते। (च. नि. ३)

आनूप देश में अर्थात् जहां जल अधिक होता है, जहां नदी होती या वर्षा अधिक होती है जहां शीतलहवायें अधिक चलती हैं जहां जङ्गल व पहाड़ विशेषतासे होते हे जहां मनुष्यों के शरीर कोमल सुकुमार व भारी होते हैं वात व कफ की वृद्धि अधिक होती है।

(१३) षष्टिवर्षतः परं, हीयमानधातुगुणं, वायुधातुप्रायं क्रमेण जीर्णमुच्यते आवर्षशतम् (च. वि. ८)

साठ वर्ष की आयु के बाद १०० वर्ष की आयु तक जब शारीरिक धातुओंके गुण क्षीण हो रहे होते हैं उसे वृद्धावस्था कहते हैं उसमें वायु की वृद्धि होती है।

(१४) भूयिष्ठं वर्धते वायुर्वृद्धे। (सु. सू. ३५)

(१५) कामशोकभयाद्वायुः। (च. चि. ३)

(१६) अभिघातेन वायुः। (च. चि. ३)

(१७) क्षयोऽपि दोषधातुमलानामतिसंशोधनातिसंशमन-वेगविधारणा,सात्म्यान्न-मनस्ताप-व्यायामा-नशना-तिमैथुनैर्भवति। (सु. सू. १५)

वृद्धावस्था में वायु अधिक बढ़ जाता है।

कामसे शोकसे एवं भय से (हर प्रकार के विक्षोभ से) शरीर में वायु बढ़ता है।

शरीर पर अभिघात लगने से वायु बढ़ता है।

दोष धातु मलोका क्षय—अतिशोधन, अतिशमन (Depression) अतिवेगधारण, आसात्म्य अन्नसेवन, मानसिकदुःख, अतिव्यायाम, अतिअनशन, अतिमैथुन से होता है।

(५)

प्रकुपितस्य वायोः कर्माणि लक्षणानि वा कानीत्याह—

(१) सर्वेषु खलु वातविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु वायो-

रिदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च लक्षणं यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसन्देहा वातविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः। तद्यथाः—रौक्ष्यम्, शैत्यम्, लाघवम्, वैशद्यम्, गति-रमूर्त-त्वमनवस्थितत्वञ्चेति वायोरात्मरूपाणि।

प्रकुपित वायु के कर्म व लक्षण ये होते हैं:—

सर्व वातरोगों में न्यूनाधिक रूप में ये वातप्रकोप सूचकलक्षण होते हैं:—

जैसे—रूक्षता, शीतता, लघुता (Atrophy) विशदता (पिच्छिलता Viscidity के विपरीत) चलता (अतिचेष्टता) अमूर्तता (जैसे-शूल, व्याकुलता, उदासीनता आदिभाव) अस्थिरता (अस्थायिता)

एवं विधत्वाच्च वायोः कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः। तद्यथाः—स्रंस-भ्रंश-व्यास-सङ्ग-भेद-साद-हर्ष-तर्ष-कम्प-वर्त-चाल-तोद-व्यथा-चेष्टादीनि। तथा खर-परुष-विशद-सुषिरारुणवर्ण-कषायविरसमुखत्व-शोष-शूल-सुप्ति-संकोचन-स्तम्भन-खञ्जनादीनि च वायोः कर्माणि, तैरन्वितं वातविकारमेवाध्यवस्येत् (च. सू. २०)

शरीर के भिन्न भिन्न अंगो में वायुके प्रकट होने पर ये लक्षण होते हैं:—

स्रंस (अस्थिका संधिस्थान से स्रस्त या चलित हो जाना) भ्रंश (Dislocation) व्यास (फैलजाना या Dilatation हो जाना) सङ्ग (संधि में एक अस्थिका दूसरी के साथ जुड़जाना Ankylosis) भेद (फटनेकासा दर्द होना) साद (विशीर्णता या Degeneration का होना) हर्ष (Tingling या Hyperaesthesia का होना) तर्ष (मुख व गले का सूखना वहां स्रावका बन्द हो जाना) कम्प (Tremors) वर्त (विवर्तन, Eversion, Inversion) चाल (अंगचलन tics आदि) तोद, व्यथा (दर्द के भेद) चेष्टा (असाधारणगति) आदि।

तथा खरता (Roughness) कठोरता (स्नायुभाव Fibrosis) विशदता, सुषिरता (सच्छिद्रता Porosity) अरुणवर्णता (Pigmentation) कषाय विरसमुखता (मुख-गले में Vasoconstriction के कारण शुष्कता) शोष (अंगशोष) शूल, सुप्ति (Anaesthesia–Numbness) संकोचन (Contraction) स्तम्भन (स्तब्धता Rigidity) खञ्जता (लंगड़ापन Neuritis के कारण) आदि

(२) कुपितस्तु खलु शरीरे, शरीरं नानाविधैर्विकारैरुपतपति, बल-वर्ण-सुखायुषामुपघाताय भवति; मनो व्यावर्तयति, सर्वेन्द्रियाण्युपहन्ति विनिहन्ति गर्भान्, विकृतिमापादयति, अतिकालं वा धारयति, भयशोकमोहदैन्याऽतिप्रलापाञ्जनयति, प्राणाँश्चोपरुणद्धि । (च. सू. १२)

कुपित हुआ २ वायु नाना विधरोगों से शरीर को रुग्ण करता है। उसके बल, वर्ण, सुख और आयुष्य का घातक हो जाता है। मनको विक्षिप्त कर देता है। इन्द्रियों का नाशक हो जाता है। गर्भ का स्रावक या मारक हो जाता है, या उसे विकृत कर देता है, या उसे अधिक काल तक रोके रखता है। वायु, भय, शोक, मोह दैन्य एवं अतिप्रलाप का कारण बन जाता है। यह प्राणों का घातक भी हो जाता है।

(३) वातः शूला-नाहा-ङ्गमर्द-मुखशोष-मूर्छा-भ्रमा-ग्निवैषम्य-पार्श्व-पृष्ठ-कटिग्रह-सिराकुञ्चनस्तम्भनानि करोति। (च. वि. २)

वायु-शूल, आध्मान, अंगों में पीडा, मुखशोष, मूर्छा, भ्रम (शिरोभ्रम या मनोविभ्रम Delusion) अग्निवैषम्य, पार्श्व, पृष्ठ तथा कटिप्रदेशों में दर्द, सिराकुञ्चन (Contraction) तथा स्तम्भन (Rigidity) का कारण हो जाता है।

(४) संकोचः पर्वणांस्तम्भो, भेदोऽस्थ्नां पर्वणामपि ।

लोमहर्षः प्रलापश्च पाणिपृष्ठशिरोग्रहः ।

खाञ्ज्य-पाङ्गुल्य-कुब्जत्वं शोषोऽङ्गानामनिद्रता ।
गर्भशुक्ररजोनाशः स्पन्दनं गात्रसुप्तता ।
शिरोनासाऽक्षिजत्रूणां ग्रीवायाश्चापि हुण्डनम् ।
भेदस्तोदाऽर्तिराक्षेपो मोहश्चायास एव च ।
एवं विधानि रूपाणि करोति कुपितोऽनिलः ।
(च. चि. २८)

कुपित होकर वायु, संकोच, संधि स्तम्भ (Ankylosis) अस्थिशूल, संधिशूल, रोमहर्ष (Sympathetic excitement से) प्रलाप, पाणिशूल, पृष्ठशूल, शिरःशूल, खञ्जता व पङ्गुता (एक ओर या दोनों ओर लंगड़ापन नाडीमण्डल में रोग के कारण) कुब्जता (Kyphosis) अंगशोष, निद्रानाश (मस्तिष्कमें विद्यमान-निद्राकेन्द्र या Inhibition की शक्ति की न्यूनता) गर्भनाश (Corpus Luteum या Progestin की निर्बलता) शुक्रनाश (अण्डग्रन्थि की निर्बलता या Autonomic नाड़ीमण्डल की विक्षोभशीलता) रजोनाश (Ovarian hypoplasia, oestrone की निर्बलता) अगस्पन्दन (Tremors, Extrapyramidal सूत्रों की निर्बलता) गात्रसुप्तता, शिर-नासिका-नेत्र-जत्रु-ग्रीवा का हुण्डन (Conjugated deviation of the head) भेद, तोद, अर्ति (दर्दों के भेद) आक्षेप (Cohvulsions) मोह (मूर्च्छा, Coma) आयास (थकावट Exhaustion) आदि लक्षणों को उत्पन्न करता है ।

(५) वायुरामाशये क्रुद्धश्छर्द्यादीन कुरुते गदान् ।
पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलं नाभौ करोति च ।
श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्यात्क्रुद्धः समीरणः ।
वैवर्ण्यं, स्फुरणं, रौक्ष्यं, सुप्तिं, चुमचुमायनम् ।
त्वक्स्थो निस्तोदनं कुर्यात्त्वग्भेदं परिपोटनम् ।
कुर्याच्छिरागतः शूलं, शिराऽकुञ्चनपूरणम् ।

स्नायुप्राप्तः स्तम्भकम्पौ शूलमाक्षेपणं तथा।
हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलशोफौ करोति च।
अस्थिशोषञ्च भेदञ्च कुर्याच्छूलञ्च तत्स्थितः।
स्तम्भना-क्षेपण-स्वाप-शोफ-शूलानि सर्वगः।

(सु. नि. १)

वायु आमाशय में कुपित होकर वमन का कारण होता है (मस्तिष्क में विक्षोभ होने पर वमन हो जाती है) पक्काशय में प्रकुपित होकर आन्त्रकूज व आन्त्रशूल का कारण होता है। श्रोत्रादि किसी इन्द्रिय में प्रकुपित होकर उसका घातक हो जाता है। त्वचा में प्रकुपित होकर विवर्णता, स्फुरण (Tremor) रूक्षता, सुप्ति, चुमचुमायन (Paraesthesia) तोद, भेद (दर्द के भेद) परिपोटन (अस्पष्ट) का कारण होता है। शिराओं में प्रकुपित होकर आकुञ्चन व पूरण का कारण बनता है (यहाँ शिरा का क्या अभिप्राय है यह अस्पष्ट है) स्नायुओं (नाडियों Nerves) में प्रकुपित होकर स्तम्भ (हनुस्तम्भ आदि Rigidity) कम्प (Tremors) शूल, आक्षेप (Convulsions) का कारण हो जाता है। सन्धियों में प्रकुपित होकर उनमें शूल, शोथ का कारण हो जाता है। अस्थिओं में प्रकुपित होकर शोप (Rickets) भेद, शूल का कारण होता है। सारे शरीर में वायु प्रकुपित हो तो स्तम्भ, आक्षेप, स्वाप (सुप्ति) शोफ तथा शूल का कारण होता है (शोफ या शोथ सारे शरीर में हृदयनैर्बल्य से होता है)।

(६) वातवृद्धौ त्वक्पारुष्यं, कार्श्यम् , कार्ष्ण्यम् , गात्रस्फुरणम् , उष्णकामिता, निद्रानाशो, अल्पबलत्वम् , गाढ़वर्चस्त्वञ्च। (सु. सू. १५)

शरीर में वायु की वृद्धि होने पर त्वचा में खुश्की, कृशता तथा कुछ कृष्णता आ जाती है। अंगों में स्फुरण (Tremors) होता, शीत

बुरालगता, निद्रा नष्ट हो जाती, शारीरिक बल हीन हो जाता, मल खुश्क हो जाता है।

(७) वातक्षये मन्दचेष्टता, अल्पवाक्त्वम्, अल्पहर्षो, मूढसंज्ञता च (सु. सू. १५)

वायु धातु के क्षीण हो जाने पर शरीर और वाणी की चेष्टायें मन्द हो जाती हैं, मानसिक हर्ष और संज्ञायें भी मन्द पड़ जाती हैं।

(६)

निदर्शनरूपेणाशीतिवातरोगानाह—

तत्र वातविकारानन व्याख्यास्यामः। तद्यथा—नखभेदश्च, विपादिका च, पादशूलं च, पादभ्रंशश्च, पादसुप्तता च, वातखुड्डता च, गुल्फग्रहश्च, पिण्डिकोद्वेष्टनश्च, गृध्रसी च, जानुभेदश्च, जानुविश्लेषश्च, उरुस्तम्भश्च, उरुसादश्च, पाङ्गुल्यश्च, गुदभ्रंशश्च, गुदार्तिश्च, वृषणोत्क्षेपश्च, शेफस्तम्भश्च, वंक्षणानाहश्च, श्रोणिभेदश्च, विड्भेदश्च, उदावर्तश्च, खञ्जत्वञ्च, कुब्जत्वञ्च, वामनत्वञ्च, त्रिकग्रहश्च, पृष्ठग्रहश्च, पार्श्वविमर्दश्च, उदरावेष्टश्च, हृन्मोहश्च (उन्मादश्च वा पाठः), हृद्द्रवश्च, वक्षउद्धर्षश्च (वक्षोघर्ष इति वा पाठः), वक्षउपरोधश्च, वक्षस्तोदश्च, बाहुशोषश्च, ग्रीवास्तम्भश्च, मन्यास्तम्भश्च, कण्ठोध्वंसश्च, हनुस्तम्भश्च (हनुभेदश्च वा पाठः), ओष्ठभेदश्च, तालुभेदः (अक्षिभेदश्च वा पाठः), दन्तभेदश्च, दन्तशैथिल्यञ्च, मूकत्वञ्च (मूकत्वं च गद्गदत्वञ्च वा पाठः), वाक्संगश्च, कषायास्यता च, मुखशोषश्च, अरसज्ञता च, घ्राणनाशश्च, कर्णशूलं च, अशब्दश्रवणं च, उच्चैःश्रुतिश्च (उच्चैः

श्रवणं च इति पाठः), बाधिर्यञ्च, वर्त्मस्तम्भश्च, वर्त्मसंकोचश्च, तिमिरं च, अक्षिशूलं च, अक्षिव्युदासश्च, भ्रूव्युदासश्च, शंखभेदश्च, ललाटभेदश्च, शिरोरुक् च, केशभूमिस्फुटनं च, अर्दितं च, एकाङ्गरोगश्च, सर्वाङ्गरोगश्च (पक्षवधश्च इति पाठः), आक्षेपकश्च, दण्डकश्च, तमश्च (श्रमश्च इति पाठः), भ्रमश्च, वेपथुश्च, जृम्भा च, हिक्का च (ग्लानिश्च इति पाठः), विषादश्च, अतिप्रलापश्च, रौक्ष्यञ्च, पारुष्यञ्च, श्यावारुणावभासता च, अस्वप्नश्च, अनवस्थितचित्तत्वञ्च—इत्यशीतिर्वातविकारा वातविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः ॥

च. सू. अ. २० वाक्य ११ ।

(१) नखभेदः—नखभेद (बड़ी आयु में रक्त के कम मिलने से) ।

(२) विपादिका (बिवाही—Fissures of the heels)

(३) पादशूल (पाँव मे दर्द Polyneuritis के कारण या सरदी के कारण अंगुलियो को उचित मात्रा में रक्त न मिलने से Raynaud के रोग में हो सकता है) ।

(४) पादभ्रंश (पांव की Dorsiflexor मांशपेशियों में घात, Peripheral Neuritis तथा पक्षाघात के कारण) ।

(५) पादसुप्तता (पाँवो में सुप्ति Numbness या Anaesthesia बहुधा Peripheral Neuritis के कारण) ।

(६) वातखुड्डता (संभवतः Talipes–club foot जिसमें Poliomyelitis के कारण पाँव की कुछ खास पेशियां मृत हो जाती है) ॥

(७) गुल्फग्रहः (बड़ी आयु में गुल्फसंधि का Osteo arthritis)

(८) पिण्डिको द्वेष्टनम् (रात को या चलने पर पिण्डलियो में होने वाला Cramp जो बड़ी आयु में arteriosclerosis या धमनीकाठिन्य के कारण होता है) ।

(९) गृध्रसी (गृधसी नाड़ी में क्षीणता Degeneration के कारण बड़ी आयु में यह रोग होता है)।

(१०) जानुभेदः (जानुसंधि में दर्द Ostoarthritis के कारण)।

(११) जानुविश्लेषः (जानुसंधि विनष्ट हो जाती है जिससे उसमें संधिभ्रंश Dislocation हो जाता है एवं सन्धिविश्लिष्ट हो जाती है। Charcot's disease में इसी प्रकार होता है)।

(१२) ऊरुस्तम्भः (paraplegia), सुषुम्नाकाण्ड में दोनों टांगों को आने वाले चेष्टावाही सूत्रों Uppermotor Neurones में वायु रोग होने से)।

(१३) ऊरुसादः (दोनों जंघाओं की शिथिलता Flaccid Paraplegia निम्नचेष्टावाही सूत्रों Lowermotor neurones में वायुप्रकोप होने से)।

(१४) पाङ्गुल्यम् (दोनों ओर लंगड़ापन Peripheral Nerves में क्षीणता के होने से)।

(१५) गुदभ्रंशः (गुदा की वातिक दुर्बलता Rectal prolapse)।

(१६) गुदार्तिः (Proctalgia या Anal Spasm)

(१७) वृषणोत्क्षेप (Cryptorchism, Hypogonadism, अण्ड का नीचे न उतरना)।

(१८) शेफस्तम्भः (Priapism या जननेन्द्रिय में अप्राकृतिकस्तम्भ, uppermotor neurones में किसी रोग या विक्षोभ के कारण)।

(१९) वंक्षणानाहः (Incomplete hernia या अपूर्ण आन्त्रवृद्धि के कारण वंक्षण में उभार का होना जो कोष्ठ के दिवार की निर्बलता का द्योतक है)

(२०) श्रोणिभेदः (श्रोणिप्रदेश या Iliac प्रदेश में दर्द, नितम्ब शूल-गृध्रसी नाडी के कारण)

(२१) विड्भेदः (मलभेद अर्थात् Gastrocolic reflex की तीव्रता के कारण बारबार मल का आना या वातातिसार)

(२२) उदावर्तः (आँतों में विष्टम्भ होकर हवा का रुक जाना चिरस्थायी प्रवाहिका Amaebic Dysentery आदि में जैसे होता है)

(२३) खञ्जता (एक टांग में लंगड़ापन Peripheral neuritis के कारण)

(२४) कुब्जता (कुबड़ापन, पृष्ठवंशास्थिकी Discs में क्षीणता के कारण उत्पन्न होता है जिसे Kyphosis कहते हैं)

(२५) वामनत्व (गलग्रन्थि Thyroid—के सूक्ष्मस्राव Thyroxine की न्यूनता जन्म से होने पर बालक की शारीरिक मानसिक वृद्धि ठीक नहीं होती इसे Cretinism कहते हैं)

(२६) त्रिकग्रहः (त्रिकप्रदेश में दर्द Lumbago)

(२७) पृष्ठग्रहः (पृष्ठप्रदेश में दर्द Panniculitis)

(२८) पार्श्वावमर्दः (पार्श्वप्रदेशों में दर्द Intercostal पेशियों में दर्द)

(२९) उदरावेष्टः (पेट की ऊपर की मांस पेशियों में वसा में या उनकी कण्डराओं Tendons में दर्द। ऊपर के चारों दर्द Rheumatic होते हैं)

(३०) हृन्मोहः (इसका अर्थ स्पष्ट नहीं, Heart failure या हृदय मांस में क्षीणता Degeneration of the myocardium से इसका अभिप्राय हो सकता है) अथवा उन्माद रोग Sehyzophrenia है।

(३१) हृद्द्रवः (हृदय का दौड़ना या धड़कन Tachycardia) जो हृदय की विक्षोभ शीलता का सूचक हैं)

(३२) वक्षोघर्षः (छाती में घर्ष Friction से क्या अभिप्राय है pleural friction या कुछ और है यह स्पष्ट नहीं)

(३३) वक्षउपरोधः (छातीका उपरोध-छाती में हवा न जाना Dyspnoea कण्ठ या Larynx की नाडियों के विक्षोभ शील होने एवं उसकी मांस पेशियों में स्तम्भ Spasm के हो जाने से Laryngismus stridulus में होता है जिस से बालक को श्वासरोध सा हो जाता है।

(३४) वक्षस्तोदः (छाती में दर्द Dry pleurisy)

(३५) बाहुशोषः (बाहु की मांस पेशियों में शोष Dystrophy का होना upper तथा Lower दोनों motor neurones में रोग के होने से बाहु की मांस पेशियों में या तो स्तम्भ का लक्षण या शैथिल्य flaccidity का लक्षण स्पष्ट होता है इसीलिये इसे motor neurone disease कहते हैं)

(३६) ग्रीवास्तम्भः (ग्रीवा के एक ओर की उथली तथा गहरी मांस पेशियों में स्तम्भ होकर ग्रीवा एक ओर को तथा कुछ ऊपर की ओर फिर जाती है जिसे Spasmodic torticollis कहते हैं)

(३७) मन्यास्तभः (ग्रीवा की मन्या मांसपेशी में अर्थात् Sternomastoid में स्तम्भ होता है या शोथ अर्थात् Fibrositis होता है)

(३८) कण्ठोध्वंसः (बोलना बन्द हो जाना—Bilateral adducter paralysis बहुधा Hysteria रोग के कारण होता है अर्थात किसी मानसिक अभिघात से होता है)

(३९) हनुस्तम्भः (Tetanus के विष के कारण होनेवाले Lock-jaw को हनुस्तभ कहते हैं)

(४०) ओष्ठभेदः (जन्म से ओठ फटा हुआ होता है जिसे Hair lip कहते हैं)

(४१) तालुभेदः (तालु जन्म से फटा होता है cleft palate)

(४२) दन्तभेदः (Dental caries का अर्थ प्रतीत होता है, नाडियों Nerves की निर्बलता का द्योतक है)

(४३) दन्तशैथिल्यम् (दांत की शिथिलता या Loose tooth का रोग भी नाडियो की निर्बलता या पोषण की निर्बलता का द्योतक है)

(४४) मूकत्वम् (लिखे हुए शब्द का 'दर्शन-केन्द्र' angular तथा Supramarginal gyri में है। बोले हुए शब्द का 'श्रवण केन्द्र' बाई ओर के superior तथा middle temporal gyri में है। इनका सबंध क्रमशः नेत्रों तथा कानो के साथ होता है। इन दो संज्ञा-केन्द्रो के अतिरिक्त Inferior frontal gyrus के पिछले भाग में एक motor speech काकेन्द्र होता है तथा middle frontal gyrus के पीछे एक

motor writing का केन्द्र होता है जिनका सम्बन्ध क्रमशः मुख व कण्ठ की मांस पेशियो तथा हाथों की मांस पेशियो के साथ होता है जिससे आदमी लिखे व सुने शब्दों को बोल सकता व लिख सकता है। इस motor speech के केन्द्र व आसपास के मस्तिष्क को रक्त middle cerebral artery की एक शाखा (Sylvian artery) से मिलता है। इस शाखा में अवरोधया Thrombosis के हो जाने से ही जैसे कि बड़ी आयु में होता है प्रायः मूकताया Aphasia कालक्षण होता है। मस्तिष्क में अर्बुद tumour के दबाव से भी धीरे-धीरे यह लक्षण हो सकता है। मूकता के साथ साथ कुछ बुद्धिमान्द्य का लक्षण भी होता है क्योंकि इस रोग में मस्तिष्क का अन्य भाग भी कुछ कुछ ग्रस्त होता है)

(४५) गद्गदत्वम् (जिह्वा में आनेवाली मस्तिष्क द्वादश नाडी Glossopharyngeal नाडी के Medulla oblongata में विद्यमान Nucleus केसेलों में क्षीणता—Atrophy—के हो जाने से शब्दोच्चारण अस्पष्ट हो जाता है। जिह्वा की मांस पेशियो में निर्बलता आने पर पहले जीभ में कम्प—Fibrillary twitchings कालक्षण होता है फिर बोलने में कठिनता का लक्षण होता है जिसे Dysarthria कहते हैं। medulla oblongata में विद्यमान nucleus में रोग हो तो इसे progressive bulbar paralysis का रोग कहते हैं। जिह्वा के बाद कण्ठ की मांस पेशियों में भी क्षीणता होने लगती है) वाक्सग तथा मूकता सदृश रोग हैं।

(४६) कषायास्यता (मुख में कसैलापन)

(४७) मुखशोषः (मुखका सूखना—xerostomia बहुधा ज्वरों में vasoconstriction के कारण होता है। जब मुख सूखता है तभी मुख कसैला सा लगता है)

(४८) अरसज्ञता (रस का ज्ञान अग्रिम ⅔ जिह्वा में से Chorda tympani के द्वारा जो Lingual Nerve में है Geniculate ganglion में जाता है वहां से संज्ञावाही सूत्र Pons में विद्यमान सप्तम नाडी

के Nucleus में जाते हैं। जहां से संज्ञा सूत्र क्रास करके दूसरी ओर के Thalamus में समाप्त होते हैं। स्पष्ट है सप्तम नाडी Facial Nerve में या Geniculate ganglion मे वायु रोग हो तो अरसज्ञता का लक्षण होता है)

(४६) घ्राणनाश (Olfactory Nerve के क्षत हो जाने या रुग्ण हो जाने से गंध शक्ति नष्ट हो जाती है)

(५०) कर्णशूलम् (दांत में caries हो, गले में tonsillitis हो जीभ में कैन्सर हो तो कान में भी Reflex रूप में तीव्र शूल होने लगता है पंचम नाडी की Auriculo temporal शाखा के विक्षुब्ध होने से वहां यह शूल होता है)

(५१) अशब्दश्रवणम् (बाधिर्यभेद)

(५२) उच्चैः श्रवणम् (बाधिर्य भेद)

(५३) बाधिर्यम् (अष्टमनाडी या cochlear Nerve किसी विष toxin से जैसे Typhoid या syphilis से प्रभावित हो जाय तो उसमें Neuritis होकर बाधिर्य का लक्षण हो जाता है या कान में से शोथ उसमें फैल जाय तो भी उसमें यह लक्षण हो जाता है या उसकी पोषक धमनियों में Thrombosis का लक्षण होने से भी श्रवण शक्ति क्रमशः कम हो जाती है। Hysteria रोग के दुष्प्रभाव से सहसा बाधिर्य हो जाता है)

(५४) वर्त्मस्तम्भः (पलकों की Orbicularis oculi मांसपेशी में स्तम्भ बड़ी आयु के व्यक्तिओं में कभी कभी हो जाता है, Psycho-neuroris में तथा Hysteria में भी कभी कभी होता है)

(५५) वर्त्म सकोच (ऊपर की पलक के नीचे गिर जाने से पलकों के बीच का छिद्र संकुचित हो जाता है, Levator palpebrae Superioris मांसपेशी में घात या Paralysis के हो जाने से ऐसा होता है, इस में ऐसा Oculo motorNerve में वायु रोग के होने से होता है)

(५६) तिमिरम् (Retina की रक्त वाहिनियों या arteries में क्षीणता के हो जाने से दृष्टि मन्द होती जाती है जैसा कि रक्तभार वृद्धि

से या मधुमेह से या जीर्णवृक्क रोग से या वृद्धावस्था जनित arterio-sclerosis रोग से होता है)

(५७) अक्षिशूलम् : (संभवतः Glaucoma से अभिप्राय है जिसमें Central retinal Vein में Thrombosis या क्षीणता जनक अवरोध होकर नेत्र के अन्दर का भार Intra ocular pressure बढ़ जाता है)

(५८) अक्षिव्युदास (इससे Squint का अभिप्राय हो सकता है जिसमे एक आंख अन्दर या बाहर की ओर फिर जाती है)

(५९) भ्रूव्युदास (इन दोनों का अभिप्राय आँखों तथा भौहों का एक ओर को फिर जाना है middle frontal gyrus में आँखों को घुमाने या चलानेवाला motor centre है वहां पर thrombosis या रक्त स्राव हो जाय तो दोनों आँखें इसी ओर को फिर जाती हैं। अर्थात् रोग दाईं ओर हो तो दोनों आँखें दाईं ओर को फिर जाती हैं तथा अर्धांग रोग बाईं ओर की शाखाओं में होता है। इसके विपरीत यदि दाईं ओर के मस्तिष्क में कोई विक्षोभक कारण हो जैसे कि अपस्मार Epilepsy में होता है तो दोनों आँखें दूसरी ओर फिर जाती हैं अर्थात् रोग दाईं ओर हो तो बाईं ओर को फिर जाती हैं)

(६०) शंखभेदः (शख प्रदेश में फटने की सी दर्द मस्तिष्क विद्रधि cerebral abscess के कारण होती है)

(६१) ललाटभेदः (trigeminal नाड़ी की प्रथम शाखा में आँख के ऊपर एक ओर की भौहों पर एक शूल उठता है जिसे Supra orbital-neuralgia कहते हैं)

(६२) शिरोरुक् (कपालान्तर्गत रक्त धमनियों में रक्त के अधिक भर जाने या उन धमनियों के फैल जाने एव कपाल के अन्दर दबाव के बढ़ जाने या वहाँ की रक्त वाहिनियों में रक्त भार B. P. के बढ़ जाने से जैसा कि किसी प्रकार के Toxaemia से होता है शिर दर्द हुआ करता है, यह Vasodilatation उनमें वायु प्रकोप को सूचित करता है)

(६३) केशभूमिस्फुटनम् (Dandruff या Pityriasis capitis को

जिस में शिर पर से छिलके झड़ते हैं कहते हैं, शिर की त्वचा तथा केशों के पोषण में कुछ मन्दता हो जाती है)

(६४) अर्दितम् (Bell's palsy या Facial paralysis को कहते हैं जो सप्तमनाडी में वायु के प्रकोप का सूचक है)

(६५) एकाङ्गरोग : (Monoplegia को कहते हैं जिस में रोग cortex मात्र में सीमित रहता है जैसे कि बाह्य आघात लगने से हो सकता है या ant. cerebral art. में अवरोध होने से एक टांग में घात हो सकता है)

(६६) सर्वाङ्गरोगः (पक्षाघात या Hemiplegia को कहते है जिसमें मस्तिष्क के एक बड़े भाग को क्षति पहुँची होती है)

(६७) आक्षेपकः (Convulsions को कहते हैं जो मस्तिष्क की विक्षोभ शीलता के द्योतक होते हैं, बहुधा यह विक्षोभ शीलता सहज होती है जो किसी आभ्यन्तर विषपदार्थ या बाह्य कारण से व्यक्त हो जाती है)

(६८) दण्डकः (Parkinsonism के कारण शरीर में पाई जानेवाली स्तब्धता Rigidity को कहते हैं पहले एक ओर की बाहु या टांग में यह स्तब्धता प्रकट होती है एवं आधे शरीर में होती है फिर बाद में दूसरी ओर भी फैल जाती है। मस्तिष्क के Substancia Nigra तथा Globus pallidus के सेलों में वातिक क्षीणता के होने से यह रोग होता है)

(६९) श्रमः (थकावट या Fatigue को कहते हैं जो निर्बल नाडी संस्थान या Bad Nervous system वालों को शीघ्र हो जाती है। वे अपनी शक्ति को व्यर्थ चिन्ता में क्रोध में झुँझलाने में और अन्य आवेशों में अत्यधिक मात्रा में खर्च करते हैं जिससे वे थके थके से रहते हैं। रक्त भार के बढ़ने पर भी रोगी को शीघ्र थकावट होती है तथा उस का नाडी मण्डल भी थका हुआ रहता है)

(७०) भ्रमः (मस्तिष्क की रक्तवाहिनियों में क्षीणता हो अर्थात् arterio sclerosis हो, रक्त भार बढ़ा हो तो सहसा खड़ा होने पर Labyrinths को उचित मात्रा में रक्त के न मिलने से सिर में चक्कर

आ जाता है। रोगी में Vasomotor संस्थान ठीक ठीक काम न करता हो जैसे रोगों के बाद की निर्बलता में हो सकता है तो भी इन्हें उचित मात्रा में रक्त न मिलने से चक्कर आ जाता है। Cerebellum को रक्त पहुंचानेवाली धमनी में Thrombosis हो तो भी चक्कर आ जाता है अर्थात् Vestibular संस्थान को रक्त के कम मिलने से भ्रम का लक्षण होता है)

(७१) वेपथुः (कम्प या tremors को कहते हैं। cerebellum या सुषुम्नाकाण्ड में जगह जगह क्षीणता Sclerosis के हो जाने से उनसे सम्बन्धित मांसपेशियो में निर्बलता के हो जाने से होते हैं। बारीक काम करते समय हाथों मे यह निर्बलता प्रकट होती है जिससे इसे intention tremor भी कहते हैं। परन्तु प्रधानतः कम्प का रोग Paralysis agitans रोग या Parkinson के रोग के हो जाने पर होता है जिसमें हाथो में या उनकी अंगुलियो मे नियमित गति के रूप में कम्प होता रहता है। काम करते समय यह कम्प बन्द हो जाता है केवल विश्राम के समय होता है। Intention tremor का रोग तो किसी बारीक काम करते समय ही होता है विश्राम के समय नहीं होता। ये दोनों कम्प नाडी संस्थान की निर्बलता के सूचक हैं)

(७२) जृम्भा (जम्भाई)—(इसके वातरोग होने का कारण स्पष्ट नही)

(७३) हिक्का (हिचकी कालक्षण Diaphragm में अकस्मात् संकोचों Clonic Spasms के होने से होता है। नाडी संस्थान में किसी प्रकार का विक्षोभ होने से यह संकोच होता है एवं Hysteria में हिक्का होने का लक्षण बहुधा मिलता है अतः यह लक्षण वातनाडियों की निर्बलता का सूचक है)

(७४) विषाद: (Depression या melancholia के रोग को जिसमें रोगी सदा विषाद की अवस्था में रहता तथा आत्मघात की सोचता है कहते हैं। यह विषाद की अवस्था महीनों तक रह सकती है यह रोग मानस संस्थान की निर्बलता का द्योतक है)

(७५) अतिप्रलापः (Delirium को कहते हैं जो मस्तिष्क की निर्बलता का सूचक लक्षण है। Pneumonia, Typhoid, Tuberculous meningitis आदि ज्वरों में यह लक्षण बहुधा प्रकट होता है uraemia के कारण तथा Belladonna, Stramonium, cannabis indica के अधिक मात्रा में लेने से भी मस्तिष्क पर दुष्प्रभाव होकर प्रलाप का लक्षण होता है। जो बालक या युवक वातिक Neurotic प्रकृति के होते हैं उनमें यह लक्षण स्वल्प विक्षोभक कारण से भी उत्पन्न हो जाता है)

(७६) रूक्षता—

(७७) परुषता (जब किसी अवयव की प्राणशक्ति, जीवनीशक्ति, या Vitality किसी निरन्तर रहनेवाले विषैले या विक्षोभक कारण से धीरे धीरे कम होती जाती है तो उस अवयव में स्नायु तन्तु Fibrous Tissue की मात्रा बढ़ती जाती है जिससे उसमें रूक्षता का लक्षण उत्पन्न हो जाता है या उस अवयव में calcium phosphate तथा calcium Carbonate अधिक अधिक बैठते जाते हैं जिस से वह अवयव परुष या कठोर होता जाता है ये दोनों लक्षण किसी अवयव में वायु बृद्धि को सूचित करते हैं इसीलिये वायु को रुक्ष तथा खर गुण कहा है)

(७८) श्यावारुणा भासता (Suprarenal cortex की निर्बलता में जब उसके Hormones कम मात्रा में शरीर को मिलते हैं तब शरीर का रंग कुछ काला सा हो जाता है जिसे addison का रोग कहते हैं। इस ग्रन्थि के Hydrocortisone के कम उत्पन्न होने पर Anterior pituitary से उसका एक melanosecreting hormone अधिक मात्रा में निकलने लगता है जिसके प्रभाव से त्वचा की गहरी स्तर में melanin की मात्रा बढ़ जाती है एवं त्वचा कुछ काली भूरी सी हो जाती है चेहरे गर्दन हाथो आदि पर इस रोग के कारण विशेषतः यह कालापन आ जाता है)

(७९) अस्वप्नः (धमनी रोग arteriosclerosis के कारण मस्तिष्क

का पोषण कम हो रहा हो या मस्तिष्क निर्बल एवं विक्षोभ शील हो अर्थात् Hypothalamus तथा तीसरे Ventricle के तले में काले भाग में विद्यमान निन्द्रा केन्द्र का पोषण ठीक न हो रहा हो या चिन्ता दुःख विषाद आदि से मस्तिष्क विक्षुब्ध हो या रक्त में वृक्क रोगजनित विष-uraemia हो या रक्त, में चाय काफी आदि का विष हो तो निद्रा घट जाती या नष्ट हो जाती है। एव उन्निद्रता नाडी मण्डल में वायु प्रकोप को सूचित करती है)

(८०) अनवस्थितचित्तत्वम्—(ऊर्ध्वमस्तिष्क cerebrum का एक गुण स्थिर चित्तता या एकाग्रता है इसके निर्बल या विक्षोभ शील होने पर चित्त में अस्थिरता या चलता बढ़ जाती है)

(७)

शरीर सहजातां वातवृद्धिमवलोक्य वातप्रकृतिरसावित्याहुः।

(१) शुक्रशोणितप्रकृतिं, मातुराहारविहारप्रकृतिम्, महाभूतविकारप्रकृतिश्च गर्भशरीरमपेक्षते। तानि हि येन येन दोषेणाधिकेन एकेनानेकेन वा समनुबध्यन्ते तेन तेन दोषेण गर्भोऽनुबध्यते ततः सा सा प्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां गर्भादि-प्रवृत्ता (च. वि. ६)

जन्म से ही वायुतत्व अधिक हो पृथ्वी अप्तेजस्तत्व मन्द हों तो ऐसे व्यक्ति को वायु प्रकृति का कहते हैं :—

अपने आरम्भक शुक्रकण या रजः कण की प्रकृति, माता पिता के आहार विहार की प्रकृति या जिन भौतिक द्रव्यों से यह शरीर बना है उनकी प्रकृति के ऊपर गर्भ शरीर की प्रकृति बनती है। शुक्रकण या रजःकण या माता पिता के आहार विहार या शरीर के आरम्भक भौतिक द्रव्य जिस या जिन दोषों से युक्त होते हैं उन्हीं से गर्भ शरीर अनुबद्ध हो जाता है वही उसकी सहज प्रकृति बन जाती है।

(२) प्रकृतिमिह नराणां भौतिकीं केचिदाहुः
पवनदहनतोयैः कीर्तितास्तास्तुतिस्रः । (काश्यप. सं.)

कोई-कोई शरीर के आरम्भक भूतों की प्रबलता, मन्दता के अनुसार प्रकृति की व्याख्या करते हैं इस प्रकार वायव्य आग्नेय और आप्य तीन प्रकार की प्रकृति हो जाती है।

(३) समपित्तानिलकफाः केचिद्गर्भादिमानवाः
दृश्यन्ते वातलाः केचित्पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा ॥
तेषामनातुराः पूर्वे वातलाद्याःसदाऽतुराः ।
दोषानुशयिता ह्येषां देह प्रकृतिरुच्यते ॥ (च. सू. ७)

बहुतसों में जन्म से वायुपित्त कफ सम अवस्था में रहते हैं, कुछ एक जन्म से वातिक प्रकृति के होते, कुछ एक पैत्तिक प्रकृति के और कुछ एक श्लैष्मिक प्रकृति के होते हैं। इनमें से प्रथम कोटि के लोग नीरोग रहते हैं परन्तु वातिक पैत्तिक श्लैष्मिक प्रकृति के लोग सदैव कुछ न कुछ रुग्ण रहते हैं। व्यक्ति का स्वभावत. जिस दोष की ओर झुकाव होता है वही उसकी प्रकृति होती है।

(४) वातलस्य वातनिमित्ता व्याधयः प्रायेण बलवन्तो भवन्ति यतो हि वातलस्य वातप्रकोपणान्यासेवमानस्य क्षिप्रं वातः प्रकोपमापद्यते न तथेतरौ दोषौ। स तस्य प्रकोपमापन्नो यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय (च. वि. ६)

वात प्रकृति के व्यक्ति को वातरोग प्रबलता से होते हैं। बात प्रकृति का व्यक्ति वातवर्धक आहार विहार करे तो उसमें वायुवृद्धि जिस शीघ्रता से होती है उतनी शीघ्रता से उसमें पित्त कफ वर्धक आहार विहारो के करने से पित्त व कफ की नही होती। उसमें वायु बढ़ कर उपर्युक्त

वायु रोगों को उत्पन्न कर देता एवं शरीर के बल, वर्ण, सुख और आयुष्य का उपघातक हो जाता है।

(५) वातस्तु रूक्ष–लघु–चल–बहु–शीघ्र–शीत–परुष–विशदः। तस्य रौक्ष्यात् वातला रूक्षाऽल्पचिताल्पशरीराः, प्रतत-रूक्ष-क्षाम-सन्न,-सक्त-जर्जर स्वराः जागरूकाश्च भवन्ति। लघुत्वाल्लघुचपलगतिचेष्टाऽहार व्याहाराः। चलत्वादनवस्थित-सन्ध्यक्षि भ्रूहन्वोष्टजिह्वाशिरःस्कन्धपाणिपादाः। बहुत्वात् बहु प्रलाप-कण्डरा-सिरा प्रतानाः, शीघ्रत्वाच्छीघ्रसमारंभक्षोभ विकाराः, शीघ्रत्रासरागविरागाः श्रुतिग्राहिणोऽल्पस्मृतयश्च शैत्याच्छीता-सहिष्णवः प्रततशीतकोद्वेपकस्तम्भाः पारुष्यात्परुषकेशश्मश्रु रोमनखदशनवदनपाणिपादाः। वैशद्यात् स्फुटिताङ्गावयवाः सततसन्धिशब्दगामिनश्च।

त एवं गुणयोगाद्वातलाः प्रायेणाल्प बलाश्चाल्पायुष श्चाल्पापत्या, श्चाल्पसाधना, श्चाल्पधनाश्च भवन्ति। (च. वि. ८)

वायु रुक्ष, लघु, चल, बहु, शीघ्र, शीत, परुष, विशद प्रभाव होता है। इसकी रुक्षता के कारण वातप्रकृति के लोगो का शरीर रूक्ष, कृश, और छोटा होता है। उनका कण्ठ स्वर भी रूक्ष, दुर्बल बैठा हुआ, अस्पष्ट, और फटा हुआ होता है तथा रुक्षता के कारण व्यक्ति जागरण शील होता है। वायु के शीघ्र गुण होने से वात प्रकृति के व्यक्तियों में काम के लिए उतावला पन होता है, उनमें विक्षोभ और मनोविकार शीघ्र होते हैं उनमें भय, राग तथा द्वेप शीघ्रता से होते हैं, उन्हें सुनकर शीघ्र स्मरण हो जाता है, पर स्मरण किया हुआ शीघ्र भूल भी जाता है। वायु के शीत गुण होने के कारण इस प्रकृति के व्यक्तियों को शीत सहन नहीं होता, शीत से उन्हें अतिकम्प हो जाता या स्तम्भ हो जाता

है। वायु के परुष गुण होने से इनके केश, रोम, नख, दान्त, चेहरा, हाथ पांव आदि देखने में परुष (कठोर) होते हैं। वायु के विशदगुण होने से इनके हाथ पांव आदि फट जाते हैं तथा चलते समय इनकी संधियों में आवाज होती है।

इन गुणों के कारण वात प्रकृति के लोग शरीर में दुर्बल, अल्पायु, अल्पसन्तानवाले, अल्पसाधनवाले एवं अल्प धन वाले होते हैं।

(६) अधृतिरदृढसौहृदः, कृतघ्नः, कृशपरुषो, धमनीततः प्रलापी।
द्रुतगति, रटनो, ऽनवस्थितात्मा वियदपि गच्छति संभ्रमेण सुप्तः।
अव्यवस्थितमतिश्चलदृष्टिर्मन्दरत्न-धनसंचयमित्रः।
किञ्चिदेव विलपत्यनिबद्धं मारुतप्रकृतिरेष मनुष्यः।
वातिकाश्चाज,-गोमायु,-शशाखूष्ट्रशुनां तथा।
गृध्र-काक-खरादीनामनूकैः कीर्तिता नराः।
(सु. शा. ४। ६३-६६)

वातप्रकृति का मनुष्य अधीर होता है, उसकी मैत्री स्थिर नही होती, दूसरे के किये उपकार को भूलने वाला होता है, शरीर में कृश होता, है, उसकी त्वचा पतली एवं कठोर होती है, त्वचा के पतले होने से उसकी रक्तवाहिनियां स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं, वात प्रकृति का व्यक्ति बहुभाषी, शीघ्र गामी, भ्रमणशील, अस्थिरचित्त, स्वप्न में आकाश-गामी, इरादे का कच्चा, चञ्चल दृष्टि एवं अनर्गलभाषी होता है। इन्हीं कारणों से उसके पास धन धान्य कम होते हैं सामान कम होता है और उसके मित्र भी कम होते हैं।

वातिक प्रकृति के मनुष्य के स्वभाव को देखते हुए उसे पशुओं में से बकरी, लोमड़ी, शशक, चूहे, ऊंट, कुत्ते, गीध, कौए, गधे आदि के समान कहा जाता है।

वातरोगाणां सामान्यं चिकित्साक्रममाह—

(१) वातप्रकोपणानि खलु रुक्ष-लघु-शीत-दारुण-खर-विशद-सुषिरकराणि शरीराणाम्। वातप्रशमनानि पुनस्तद्विपरीतानि स्निग्ध-गुरु-उष्ण-श्लक्ष्ण-मृदु-पिच्छिल-घन-कराणि शरीराणाम्। तथाविधेषु शरीरेषु हि वायुरासज्यमानश्चरन् प्रशान्तिमापद्यते। (च. सू. १२)

वातप्रकोपक पदार्थ शरीर में रूक्षता, लघुता, शीतता, कठोरता, खरता (Roughness) विशदता तथा सच्छिद्रता के भावों को उत्पन्न करते हैं। इनके विपरीत जो भावशरीर में स्निग्धता, गुरुता, उष्णता मृदुता, श्लक्ष्णता, पिच्छिलता और घनता के भावों को उत्पन्न करते हैं वे वायुशामक होते हैं।

(२) वातं मधुराम्ललवणस्निग्धोष्णै रूपक्रमैरुपक्रमेत। स्नेहनस्वेदना-स्थापना-नुवासन-नस्यकर्म–भोजनाऽभ्यङ्गोत्सादन परिषेकादिभिर्वातहरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य।

वायुरोगी को मधुर अम्ल लवणरस, स्निग्धउष्णगुण भोजन, स्नेहन, स्वेदन, आस्थापन, अनुवासन, नस्य, अभ्यङ्ग, उत्सादन, परिषेक आदि देने चाहिएं।

तत्रास्थापनानुवासनं तु खलु सर्वोपक्रमेभ्यो वाते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः। तद्धि आदित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं छिनत्ति। तत्रावजिते वाते शरीरान्तर्गता वातविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते। (च. सू. २०)

इनमें भी आस्थापन व अनुवासन वस्तियां उसके लिये विशेष उपयोगी रहती हैं। कोष्ठ में वायु के शान्त हो जाने पर शरीर व्याप्त वायुरोग शान्त हो जाते हैं।

(३) वातस्यावजयनम् स्नेहस्वेदौ विधियुक्तौ । मृदूनि च संशोधनानि स्नेहोष्णमधुराम्ललवणयुक्तानि तद्वदभ्यवहार्याणि अभ्यङ्गोपनाहनो-द्वेष्टनो--न्मर्दन-परिषेका-वगाहन-संवाहना-वपीडन-वित्रासन-विस्मापन-विस्मारणानि-सुरासवविधानम् , स्नेहाश्चानेकयोनयो, दीपनीय-पाचनीय-वातहर-विरेचनीयोपहितास्तथा शतपाकाः सहस्रपाकाः सर्वशश्च प्रयोगार्थां, वस्तयो वस्तिनियमः, सुखशीलता च । (च. वि. ६)

वायुरोग की शान्ति के लिये स्नेहन करना चाहिये; स्वेदन देना चाहिये, शरीर का मृदु संशोधन करना चाहिये, मधुर अम्ल लवणरस स्निग्ध उष्णगुण भोजन देना चाहिये, तैलाभ्यङ्ग करना चाहिये, गर्म पोल्टीस बांधनी चाहिये, उबटन देने चाहियें, मर्दन करना चाहिये, परिषेचन देने चाहियें, टब में बिठाकर अवगाहन कराने चाहियें, संवाहन (मृदुमर्दन) करना चाहिये, अवपीडन करना चाहिये, रोगी के लिये विस्मापन तथा विस्मारण के उपाय करने चाहियें (विस्मारण के लिये निरन्तर निद्राजनक औषधि का प्रयोग कर सकते हैं)। नाना प्रकार की सुराओं या आसवों का प्रयोग करना चाहिये। दीपनीय-पाचनीयगुण वातहर तथा विरेचनीय गुण औषधियों से बने घृत जिनका पाक एक बार, पाँचबार, सौबार या सहस्रबार किया गया हो पिलाने चाहियें। वस्तियों का नियमपूर्वक कुछ काल प्रयोग करना चाहिये तथा रोगी को आराम में रखना चाहिये।

(४) सर्पिस्तैलवसामज्जपानाभ्यञ्जनवस्तयः ।
स्निग्धाः स्वेदा निवातं च स्थानं, प्रावरणानि च ॥
रसाः पयांसि भोज्यानि स्वाद्वम्ललवणानि च ।
बृंहणं यच्च तत् सर्वं प्रशस्तं वातरोगिणाम् ॥
(च. चि. २८)

वायु रोगियों को घृत, तैल, वसा, मज्जा आदि का पान कराना चाहिये, इनकी मालिश करानी चाहिये, तथा इनका वस्तियों में प्रयोग करना चाहिये। उन्हें स्निग्ध स्वेदन देना चाहिये। निवात, गर्म प्रदेश में गर्म कपड़ों से ढककर रखना चाहिये। उन्हें मांसरस, दूध, मधुर अम्ल लवणरस आहार देने चाहियें। तथा जो जो भी शरीर के बृंहण के उपाय हो सकते हैं करने चाहियें।

(५) केवलं निरुपस्तम्भमादौ स्नेहैरुपाचरेत् ।
वायुं सर्पिर्वसातैलमज्जपानैर्नरं ततः ॥
स्नेहक्लान्तं समाश्वास्य पयोभिः स्नेहयेत्पुनः ।
यूषैर्ग्राम्याम्बुजानूपरसैर्वा स्नेहसंयुतैः ॥
पायसैः कृशरैः साम्ललवणैरनुवासनैः ।
नावनैस्तर्पणैश्चान्नैः सुस्निग्धं स्वेदयेत्ततः ॥
स्वभ्यक्तस्नेहसंयुक्तैर्नाडीप्रस्तरसंकरैः ।
तथान्यैर्विविधैः स्वेदैर्यथायोगमुपाचरेत् ॥
स्नेहाक्तं स्विन्नमङ्गन्तु वक्रं स्तब्धमथापि वा ।
शनैर्नमयितुं शक्यं यथेष्टं शुष्कदारुवत् ॥
हर्षतोद रुगायास शोथस्तम्भग्रहादयः ।
स्विन्नस्याशु प्रशाम्यन्ति मार्दवं चोपजायते ॥
स्नेहश्च धातून् संशुष्कान् पुष्णात्याशु प्रयोजितः ।
बलमग्निबलं पुष्टिं प्राणांश्चाप्यभिवर्धयेत् ॥
असकृत्तं पुनः स्नेहैः स्वेदैश्चाप्युपपादयेत् ।
तथा स्नेह मृदौ कोष्ठे न तिष्ठन्त्यनिलामयाः ॥

(च. चि. २८)

यदि शुद्ध वायु का प्रकोप हो तो घृत, वसा, तैल या मज्जा किसी

का कुछ काल पान कराना चाहिये। इनके पान से अरुचि हो जाय तो घृतयुक्त दूध, या घृतयुक्त, ग्राम्य, जलज, आनूप मांस रस पिलाना चाहिये या घृतयुक्त खीर या घृत और खटाई से युक्त खिचड़ी खिला २ कर तथा अनुवासन वस्तियों, स्निग्ध नस्यों और तर्पक गुण भोजनों से शरीर का स्नेहन करना चाहिये। स्नेहन हो जाने पर फिर शरीर का स्वेदन करना चाहिये अर्थात् नाडीस्वेदन (वाष्पस्वेदन या उष्णोदकस्वेदन) प्रस्तर स्वेदन (Plastering) या संकर स्वेदन (पिण्डस्वेदन) आदि किसी उचित स्वेदन विधि से स्निग्ध स्वेदन देना चाहिये। भली प्रकार स्निग्ध किये हुए और फिर स्विन्न किये हुये अंग को यदि वह वक्र वा स्तब्ध भी हो तो उसे मृदु एवं लचकीला किया जा सकता है तथा उसके अन्दर विद्यमान हर्ष (Paraesthesia) तोद, रुक् , आयाम आदि दर्दों को, शोथ को तथा स्तम्भ और जकड़न आदि को शीघ्र दूर किया जा सकता एवं अङ्ग को मृदु बनाया जा सकता है। शरीर का स्नेहन करने से शुष्क हुए धातु शीघ्र परिपुष्ट हो जाते हैं। शरीर का बल, अग्निबल, शारीरिकपुष्टि और प्राणशक्ति सब बढ़ जाते हैं अतः बार बार वायु रोगी के शरीर का स्नेहन स्वेदन होना चाहिये। उसके कोष्ठ को स्नेह से मृदु कर देने पर फिर उसमें वायु रोग नहीं ठहरते।

(६) यद्यनेन सदोषत्वात्कर्मणा न प्रशाम्यति।
मृदुभिः स्नेहसंयुक्तै रोषधैस्तं विशोधयेत् ॥
घृतं तिल्वक सिद्धं वा सातलासिद्धमेव वा।
पयसैरण्डतैलं वा पिबेद्दोषहरं शिवम् ॥
स्निग्धाम्ललवणोष्णाद्यैराहारैर्हि मलश्चितः।
स्रोतो बद्ध्वाऽनिलं रुन्ध्यात्तस्मात्तमनुलोमयेत् ॥
दुर्बलो योऽविरेच्यः स्यात्तं निरूहैरुपाचरेत् ॥

(च. चि. २८)

शरीर के दोष दूषित होने के कारण यदि उपर्युक्त स्नेहन, स्वेदन से वायु रोग शान्त न हो तो स्नेहयुक्त औषधि के द्वारा रोगी को विरेचन कराना चाहिये। इस प्रयोजन से तिल्वक घृत, सातला साधित घृत, या एरण्डतेल दूध के साथ पिलाना चाहिये। वायुरोगी के मल का अनुलोमन करना उचित है। पर जो रोगी दुर्बल हो उसका वस्तियों द्वारा ही शोधन होना चाहिये।

(७) शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगाः मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च
ये सन्ति तेषां नहि कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति।
विण्मूत्रपित्तादिमलाचयानां विक्षेपसंहारकरः स यस्मात्
तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद्वस्ति विना भेषजमस्तिकिञ्चित्
(च. सिद्धि. २)

शाखाओं में, कोष्ठ में, मर्म स्थानों में, ऊर्ध्वांग में तथा सर्वाङ्ग में, जो वायुरोग होते हैं उन सबकी शान्ति के लिये वस्ति उत्तम चिकित्सा है।

(८) अश्वगन्धा, बलास्तिस्रो दशमूली महौषधम्।
गृध्रनख्यौ च रास्नादिर्गणो मारुतनाशनः॥ (योगरत्नाकर)

अश्वगंधा, तीनों बला, दशमूल, शुण्ठी, रास्ना, गिलोय, कचूर, देवदारु, हरड़, अमलतास, सौंफ, पुनर्नवा, शतावरी, एरण्डमूल, वचा, वासा, अतीस, पिप्पली विधारा, सोया, कुस्तुम्बुरु, चव्य, चित्रक, धमासा, कुष्ठ, तगर, जटामांसी, गुग्गुलु, केसर, कस्तूरी, हीग ये सब वायुरोग-शागक होते हैं।

शुद्धकल्को रसोनस्य तिलतैलेन मिश्रितः।
वातरोगाञ्जयेत्तीव्रान्॥ (योगरत्नाकर)

लशुन तिल तैल के साथ सेवन करने से या लशुन तेल मलने से वायुरोग नाशक होता है। योग रत्नाकर।

(१०) रसाः क्षीराणि मांसानि स्नेहाः स्नेहान्वितं च यत् ।
भोजनानि फलाम्लानि स्निग्धानि लवणानि च ॥
कुलत्थमाषगोधूमा रक्ताभाः शालयो हिताः ।
पटोलं शिग्रु वार्ताकं दाडिमञ्च परूपकम् ॥
मत्स्यण्डिका घृतं दुग्धं किलाटं दधिकूर्चकम् ।
बदरं लशुनं द्राक्षा ताम्बूलं लवणं तथा ॥
निवाताऽतपयुक्तानि तथा गर्भगृहाणि च ।
मृद्वी शय्या,ऽग्नि संतापो, ब्रह्मचर्यं तथैव च ।
वातव्याधौ समुत्पन्ने पथ्यमेतन्नृणां स्मृतम् ॥

मांसरस, दूध, घृत, तेल आदि स्नेह, लवण, कुलथी, माष, गेहूँ, रक्तशालि, परवल, सोहांजना, बैंगन, दाडिम, फालसा, मिश्री, दूध, पनीर, लशुन, द्राक्षा, पान, आदि आहार द्रव्य वायुशामक होते हैं। आराम, अग्निसेक तथा ब्रह्मचर्य भी वातरोगियों के लिये आवश्यक हैं। इनके विपरीत वातरोगियो को चिन्ता, विक्षोभ, अतिजागरण, अतिश्रम, अत्युपवास, मैथुन, यात्रा आदि से बचना चहिये।

इस प्रकार ७१ वाक्यो वाला यह वायु विषयक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

पित्तेतिविषयकस्तृतीयोऽध्यायः

(पित्तविषयक तीसरा अध्याय)

भूताग्निरेव प्राणिषु पित्तमित्युच्यतेः—

प्राणी शरीर में विद्यमान अग्नितत्व को ही पित्त कहते हैं :—

(१) तप-सन्तापे इत्येतेन कृद्विहितेन प्रत्ययेन पित्तमिति रूपं भवति। न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते आग्नेयत्वात्तस्य। पित्ते दहनपचनादिषु अभिवर्तमानेऽग्निवदुपचारः क्रियते अन्तरग्निरिति। (सु. सू. २१)

'तप' सन्तापे इस धातु से कृत् प्रत्यय करके और त, प इन दो अक्षरों को उलटा कर देने से पित्त शब्द बन गया है।

पित्त, आग्नेयतत्व है। उसके व्यतिरिक्त शरीर में कोई दूसरी अग्नि नहीं है। पित्त के कारण शरीर में दहन (Oxidation) तथा पचन (Digestion) आदि कर्म होते हैं इस लिये उसे अन्तरग्नि कहते हैं।

(२) यत्पित्तम् , ऊष्मा च यो, या च भाः शरीरे तत्सर्वमाग्नेयम् रूपं दर्शनञ्च। (च. शा. ७)

शरीर में जो पित्त है, शरीर की जो ऊष्मा है, उसपर जो प्रभा (चमक) है, रूप की प्रतीति है, रूप को देखने वाली नेत्रेन्द्रिय है ये सब आग्नेय कर्म हैं।

(३) आग्नेयास्तु गुणाः शरीरे, रूपं, रूपेन्द्रियम् , वर्णः, सन्तापः, भ्राजिष्णुता, पक्तिः अमर्षः तैक्ष्ण्यम् , शौर्यञ्च।

(सु. शा. १)

शरीर में ये आग्नेय गुण हैं, जैसे रूप की प्रतीति होना, नेत्रेन्द्रिय,

त्वचा का वर्ण, शरीर की गर्मी, त्वचा पर की चमक या प्रभा, पचनकर्म, क्रोध, तीक्ष्णता तथा शूरता।

(४) अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः, कुपिताऽकुपितः, शुभाशुभानि करोति। तद्यथाः—दर्शनमदर्शनम् , मात्रामात्रत्वमूष्मणः, प्रकृतिविकृतिवर्णौ, शौर्यं भयम् , क्रोधं हर्षम् , मोहं प्रसादम् इत्येवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति। (च. सू. १२)

पित्तान्तर्गत अग्नितत्व प्राकृतिक अवस्था में रहे तो शरीर को स्वस्थ रखता है। वह विकृत हो जाय तो शरीर को अस्वस्थ कर देता है। अर्थात् उसके प्राकृतिक अवस्था में रहने पर हमारी दृष्टि, ऊष्मा तथा वर्ण नार्मल अवस्था में रहते हैं तथा मन में शूरता. हर्ष और प्रसाद (Clarity) के भाव रहते हैं। अग्नितत्व के विकृत हो जाने पर दृष्टि हीनता, ऊष्माकी न्यूनाधिकता, वर्ण में विकृति के लक्षण हो जाते हैं। मन में शूरता के विपरीत भय, हर्ष के विपरीत क्रोध तथा प्रसाद के विपरीत मोह (Confusion) के लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं।

(५) दर्शनं, पक्ति, रूष्मा च, क्षुत्तृष्णादेहमार्दवम्।
प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम्॥
(च. सू. १९)

इस प्रकार शरीर में जो रूप ग्रहण करने का गुण है, पचनकर्म है, दहनकर्म या ऊष्मा है, भूख-प्यास का गुण है, त्वचापर जो मृदुता है, प्रभा या चमक है तथा प्रसाद और मेधा (शीघ्र ग्रहण शक्ति) के गुण हैं ये पित्त के ठीक-ठीक काम करने के कारण हैं।

पञ्च भूताग्नयः, सप्त धात्वग्नयः, स्थानभेदात्पित्तस्य पञ्चभेदाश्चेति :—

पाँचभूताग्नियां, सात धात्वग्नियां तथा पञ्चविध पित्ताग्नि हैं—

(१) भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः ।
पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि ॥
(च. चि. १५।१३)

यथा स्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक् ।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः ॥
(च. चि. १५।४)

पाँचभूताग्नियां—पार्थिव आहार द्रव्यों को जो (शरीर के मूर्त भावों को बढ़ाते हैं) पचाने वाली अग्नि पार्थिवाग्नि कहाती है । आप्य आहार द्रव्यों को (जो शरीर के द्रवभावों को बढ़ाते हैं) पचाने वाली अग्नि आप्याग्नि कहाती है । आग्नेय आहार द्रव्यों को (जो कि शरीर के आग्नेय भावों को बढ़ाते हैं) पचाने वाली अग्नि आग्नेय अग्नि कहाती है । वायव्य आहार द्रव्यों को (जो शरीर की चेष्टाओं को बढ़ाने वाले होते हैं) पचानेवाली अग्नि वायव्याग्नि कहाती है । तथा आकाशीय गुण आहार द्रव्यों को (जो कि शरीर के सर्वछिद्र समूहों को बनाने वाले हैं) पचानेवाली अग्नि आकाशीय अग्नि कहाती है । इस प्रकार पञ्चभूताग्नियां पाञ्चभौतिक अन्न का पाचन करती हुई मानी जाती हैं ।

(२) सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः ।
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत् ॥
(च. चि. १५।१५)

सात धात्वग्नियां:—

शरीर के धारक रसरक्तमांस आदि धातुओं में से प्रत्येक धातु अपनी-अपनी अग्नि के द्वारा पचती है तथा प्रसाद और मलरूप में परिवर्तित होती रहती है । उदाहरणतया रस के पाक से जो मल बनता है उसे कफ (Mucus) कहते हैं । रक्त के पाक से जो मल निकलता है उसे पित्त या (Bile) कहते हैं । अन्न के पाक से जो मल उत्पन्न होते हैं उन्हें पुरीष व मूत्र कहते हैं इत्यादि । इस प्रकार

रसपाचक, रक्तपाचक, मांसपाचक, मेदस्, मज्जा, अस्थि, शुक्र पाचक नाम से ७ धात्वग्नियां होती हैं जो इनका यथावत पाक करती एवं इनके निर्माण में सहायक होती हैं।

(३) पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च रसदोषमूत्रपुरीषाणि। तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य अग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति।

(सु. सू. २१)

पाचकाग्निः—आमाशय और पक्वाशय में अन्नपाचक पित्त का स्थान है वहाँ यह अन्न को पचाकर उसे रस और दोष रूप में परिवर्तित कर देता है। यह दोष रूप अन्न मलमूत्र के रूप में शरीर से बाहर हो जाता है। वहाँ विद्यमान यह पाचक पित्त ठीक-ठीक अग्निकर्म करता हुआ शेष पित्त स्थानों तथा शरीर का बड़ा उपकार करता है।

(४) अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तॄणामधिको मतः।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मिकाः ॥
आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा।
ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः ॥
शान्तेऽग्नौ म्रियते, युक्ते चिरञ्जीवत्यनामयः।(च. चि. १५)

यह अन्नपाचक अग्नि शरीर की सर्व अग्नियों में प्रमुख है क्योंकि वे सब इसी पर आश्रित हैं। इसके बढ़ने से वे बढ़ती, इसके क्षीण होने से वे क्षीण होती हैं। हमारी आयु, वर्ण, बल, स्वास्थ्य, उत्साह वृद्धि, प्रभा, ओज, तेज, अन्यान्य अग्निया तथा प्राण (प्राणशक्ति Vital energy, Resistance) ये सब पाचकाग्नि पर आश्रित हैं। इस अग्नि के ठीक रहने पर मनुष्य चिरायु होता है इसके शान्त होने पर मृत्यु हो जाती है।

(५) बलमारोग्यमायुश्च प्राणाश्चाग्नौ प्रतिष्ठिताः ॥ (च. सू. २७)

हमारा बल, आरोग्य, आयु और प्राण ये सब अग्निपर आश्रित हैं।

(६) प्रभुर्वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचत्यन्नं चतुर्विधम् ॥
(भ. गीता अ. १५)

यह पाचकाग्नि क्या है मानो इसके रूप में भगवान् शरीर में बैठे हैं और प्राण और अपान वायुओं की सहायता से अन्न को पचाते हैं।

(७) यत्तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोग्निरिति संज्ञा
रसस्य रागकृदुक्तः ।

रक्तरञ्जकाग्निः—यकृत् तथा प्लीहा में स्थित उस अग्नि को जो रक्त के रञ्जन का कार्य करता है रक्तरञ्जक पित्त कहते हैं।

(८) यत्तु पित्तं हृदयसंस्थितं तस्मिन्साधकोग्निरिति संज्ञा।
सोऽभिप्रार्थितमनोरथसाधनकृदुक्तः ।

भावसाधक पित्तः—हृदय (मस्तिष्क) मे स्थित उस अग्नि को जो मानसिक भावों का साधन करती है भावसाधक अग्नि कहते हैं।

(९) तद्दृष्ट्यां पित्तं तस्मिन्नालोचकोग्निरिति संज्ञा। स रूप-
ग्रहणेऽधिकृतः ।

रूपालोचक पित्त—दृष्टि स्थान (Retina) में स्थित उस अग्नि को जो रूप को ग्रहण करने का कार्य करती है रूपालोचक पित्त कहते हैं।

(१०) यत्तु त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा। सोऽभ्यङ्गपरिषेकावगाहावलेपादीनां क्रियाद्रव्याणां पक्ता छाया-नाञ्च प्रकाशकः। (सु. सू. २१)

त्वग्भ्राजक पित्त—त्वचा में स्थित उस अग्नि को जो त्वचा की

प्रभा का कारण है तथा जो त्वचा से मालिश आदि के द्वारा आये द्रव्यों का पाचन करती है त्वग्भ्राजक पित्त कहते हैं।

(११) पित्तस्य यकृत्प्लीहानौ हृदयं दृष्टिस्त्वक् नाभिश्च विशेषस्थानानि। (सु. सू. २१)

यकृत् , प्लीहा हृदय, नेत्र, त्वचा, कोष्ठ पित्त के विशेष स्थान हैं।

पित्तवृद्धेर्हेतवः—

(१) आग्नेयमेव यद् द्रव्यं तेन पित्तमुदीर्यते। (सु. सू. ४१)

पित्तवृद्धि के कारणः—

जिन आहार विहार औषध देश काल आदि से शरीर में अग्नितत्व की वृद्धि होती है वे पित्तवर्धक होते हैं।

(२) उष्णाम्ल-लवण-क्षार-कटुका-जीर्णभोजनेभ्योऽतिसेवितेभ्यस्तथा तीक्ष्णातपा-ग्निसंताप-श्रम-क्रोध-विषमाहारेभ्यश्च पित्तं प्रकोपमापद्यते। (च. वि. १)

उष्णगुण, अम्ल, लवण, क्षार, कटुरस अजीर्णकारक भोजनो तथा तेज धूप, अग्नि, श्रम और क्रोध के अति सेवन से तथा विषम आहार करने से शरीर में पित्त प्रकुपित हो जाता है।

(३) क्रोध-शोक-भया-यासो-पवास-विदग्धाहार-मैथुनोपगमन-कट्वम्ल-लवण-तीक्ष्णोष्ण-लघु-विदाहिद्रव्य-तिलतैल-पिण्याक-कुलत्थ-सर्षपा-तसी-हरितकशाक-गोधा-मत्स्या-जाविकमांस-दधि-तक्र-कूर्चिका-मस्तुसौवीरकसुराविकाराम्लफल-कट्वरा-कप्रभृतिभिः पित्तं प्रकोपमापद्यते।

क्रोध, शोक, भय, श्रम, उपवास, विदग्ध (Decomposed) हुए आहार द्रव्य के सेवन, मैथुन के सेवन, कटु, अम्ल, लवणरस, तीक्ष्ण उष्ण लघुगुण विदाही भोजनो के सेवन, तिलतेल, पिण्याक, कुलथी, सरसों, अलसी, हरितक शाक, गोधा, मत्स्य, अजा तथा अविमांस के

अति सेवन, दही, तक्र, पनीर, मस्तु, सिरका, मद्य, अम्लरसफल, कट्वर, तेजधूप के अति सेवन से पित्त की वृद्धि हो जाती है।

तदुष्णै-रुष्णकाले च, मेघान्ते च विशेषतः ।

मध्याह्ने चार्धरात्रे च जीर्यत्यन्ने च कुप्यति ॥(सु. सू. १२)

अर्थात् उष्णगुण द्रव्यों के सेवन, उष्णकाल विशेषतः वर्षा के बाद होने वाली तेज धूप से मध्याह्न काल तथा अर्धरात्रि में अन्न के जीर्ण होते समय शरीर में पित्तकर्म की वृद्धि होती है।

(४) **वर्षाशीतोचिताङ्गानां सहसैवार्करश्मिभिः ।**

तप्तानामाचितं पित्तं प्रायः शरदि कुप्यति ॥(च. सू. ६)

वर्षा के शीतकाल के बाद सहसा तेज धूप के पड़ने पर शरीर में पित्त प्रकुपित हो उठता है।

(५) **कट्वम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति ।** (च. वि. १)

कटु अम्ल लवण रस शरीर में पित्त के वर्धक होते हैं।

(६) **प्रविरलाल्पकण्टकिवृक्षप्रायोऽल्पवर्षप्रस्रवणोदकपानोदकप्राय उष्णदारुणवातः प्रविरलाल्पशैलः स्थिरकृशशरीर मनुष्यप्रायो, वातपित्तरोगभूयिष्ठो जाङ्गलः ।** (सु. सू. ३५)

जिन प्रदेशो में वृक्ष, वनस्पति नही होते केवल छोटी-छोटी कंटीली झाड़ियां ही होती हैं, जहाँ वर्षा कम होती तथा जलाशय झरने आदि नहीं होते, जहाँ छोटी-छोटी पहाड़ियां ही कही-कही दीखती हैं, जहाँ गरम लुएं चलती है जहाँ के रहने वाले मनुष्य शरीर में हलके पर मजबूत होते हैं उसे जाङ्गल देश कहते हैं वहाँ पित्त की तथा वायु की वृद्धि हो जाया करती है।

(७) **अल्पोदकद्रुमो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः ।**

ज्ञेयः स जाङ्गलो देशः स्वल्परोगतमोऽपि च ॥(च. वि. ३)

जिस देश में जल और वनस्पति बहुत कम होती हैं जहाँ तेज

वायु चलती एवं तेज धूप पड़ती है ऐसे देश को जांगल देश कहते हैं ऐसे देश में रोग बहुत कम होते हैं।

(८) मध्यमे पित्तमेव तु। (सु. सू. ३५)

आयु के मध्यम भाग में पित्त स्वभावतः बढ़ा हुआ रहता है।

(९) पित्तधातुप्रायमाषष्टिवर्षमुपदिष्टम्। (च. वि. ८)

२५-३० वर्ष की आयु से ६० वर्ष की आयु तक स्वभावतः पित्त कर्म शरीर में प्रबल रहता है।

प्रकुपितस्य पित्तस्य लक्षणान्याह—

(१) सर्वेषु पित्तविकारेषु पित्तस्येदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसन्देहाः पित्तविकारमध्यवस्यन्ति कुशलाः। तद्यथा—औष्ण्यम्, तैक्ष्ण्यम्, द्रवत्वम्, अनतिस्नेहो, वर्णश्च शुक्लारुणवर्जो, गन्धश्च विस्रो, रसौ च कटुकाम्लौ, सरत्वञ्च पित्तस्यात्मरूपाणि।

एवंविधत्वाच्च पित्तस्य कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः। तद्यथाः—दाह-औष्ण्य-पाक-स्वेद-क्लेद-कोथ-कण्डू-स्राव-रागाः, यथास्वं च गन्धवर्णरसाभिनिर्वर्तनम्, पित्तस्य कर्माणि। एतैरन्वितं पित्तविकारमध्यवस्येत्।

(च. सू. २०)

प्रकुपित या बढ़े हुए पित्त के लक्षणः—

पित्त रोगों में बढ़े हुए पित्त के जिन लक्षणों को न्यूनाधिक मात्रा में देख कर निपुण वैद्य जान लेते हैं कि यह पित्त जनित रोग है वे ये हैं:—उष्णता, तीक्ष्णता, द्रवता, किञ्चित्स्निग्धता, श्वेत तथा भूरे रङ्ग से अतिरिक्त अन्य वर्णों (लालिमा पीतिमा आदि) का होना, दुर्गन्धता, मुख में कटु अम्ल रसों का होना, तथा सरता। पित्त के इन कर्मों का कारण होने से शरीर के अवयवों में उसके प्रकुपित होने

पर ये लक्षण होते हैं जैसे दाह, उष्णता, पूयभाव, स्वेद, क्लेद, कोथ कण्डू, स्राव, लालिमा पित्तसूचक गन्ध, वर्ण तथा रसकी उत्पत्ति, इन्हें देख कर यह पित्तरोग है ऐसा निश्चय कर लिया जाता है।

(२) पित्तं दाह-स्वेद-क्लेद-कोथ-स्राव-पाक-रागान् करोति।

(च. वि. ६)

पित्त प्रकुपित होकर दाह, स्वेद, क्लेद, कोथ, स्राव, पाक तथा राग (रंग) इन लक्षणों को उत्पन्न करता है।

(३) पित्तं पुनर्ज्वरा-तिसारा-न्तर्दाह-तृष्णा-मद-भ्रम-प्रलपनानि करोति। (च. वि. ८)

पित्त प्रकुपित होकर ज्वर, अतिसार, अन्तर्दाह, पिपासा, मद, भ्रम तथा प्रलाप के लक्षणों को उत्पन्न करता है।

(४) पित्तवृद्धौ पीतावभासता, सन्तापः, शीतकामित्वम्, अल्पनिद्रता, मूर्च्छा-बलहानि-रिन्द्रियदौर्बल्यम्, पीतविण्मूत्र-नेत्रता।

शरीर में पित्त के बढ़ जानेपर, शरीर पर पीलापन, दाह, शीतेच्छा, निद्रा की न्यूनता, मूर्छा, बलहानि, इन्द्रिय दौर्बल्य, मलमूत्र नेत्र आदि में पीतता के लक्षण होते हैं।

(५) पित्तक्षये तु मन्दोष्मता मन्दाग्निता निष्प्रभत्वञ्च।

(सु. सू. १५)

इसके विपरीत पित्त के क्षीण हो जानेपर शरीर की गर्मी कम हो जाती है, अग्नि मन्द हो जाती है, मुखपर से प्रभा जाती रहती है।

निदर्शनरूपेण कांश्चित्पित्तरोगानाह—

पित्तविकारांश्चत्वारिंशत मतऊर्ध्वमनुव्याख्यास्यामओषश्च, प्लोषश्च, दाहश्च, दवथुश्च, धूमकश्च, अम्लकश्च, विदाहश्च, अन्तर्दाहश्च, अंगदाहश्च, ऊष्माधिक्यञ्च, अतिस्वेदश्च, अङ्गगंधश्च, अङ्गाव-

दरणञ्च, शोणितक्लेदश्च, मांसक्लेदश्च, त्वग्दाहश्च, त्वगवदरणञ्च, चर्मदलनञ्च, रक्तकोठश्च, रक्तविस्फोटश्च, रक्तपित्तञ्च, रक्तमण्डलानिच, हरितत्वञ्च, हारिद्रत्वञ्च, नीलिकाच, कक्षाच, कामलाच, तिक्तास्यताच, लोहितगंधास्यताच, पूतिमुखताच, तृष्णाधिक्यञ्च, अतृप्तिश्च, आस्यपाकश्च, गलपाकश्च, अक्षिपाकश्च, गुदपाकश्च, मेढ्रपाकश्च, जीवादानञ्च, तमःप्रवेशश्च, हरित हारिद्रनेत्रमूत्रवर्चस्त्वञ्च, इति चत्वारिंशत्पित्तविकाराः पित्तविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृत तमा व्याख्याताः। (च. सू. २०–१४)

ओषः

प्लोषः (अग्निदाह)

दाहः

दवथुः (ये चारों दाह या (Burning sensation) के सूचक हैं।

धूमकः (पेट के लवणाम्ल (Hcl) के भोजन नाली में अधिक आ जाने से उसमें शोथ हो जाने से छाती में धूएं की सी प्रतीति होती है। लक्षण पित्ताजीर्ण का सूचक है)

अम्लकः (पेट के लवणाम्ल के उलटी के साथ बाहिर आने को अम्लोद्गार या अम्लक कहते हैं)

विदाहः (आमाशय गत रस में विदाह या Decomposition या जलन के होने को कहते हैं)

अन्तर्दाहः (ज्वरों में होने वाले शारीरिक दाह को कहते हैं)

अंगदाहः (किसी अग में पैत्तिक शोथ (Inflammation) है। अर्थात् वहाँ रक्त का अतिसंचय हो तो उसे उस अंग का दाह कहते हैं अंग्रेजी के रोगों के नाम से जो itis लगता है वह भी दाह के अर्थ का सूचक होता है)

ऊष्माधिक्यम् (ऊँचा तापमान शरीर में विद्यमान पित्ताधिक्य का सूचक है)

अतिस्वेद: (विषमज्वर, राजयक्ष्मा आदि में अतिस्वेद शरीर में बढ़े हुए पित्त कर्म का सूचक होता है)

अंगगन्ध (अंग में गंध का अधिक आना (Bromidrosis) स्वेद की अधिकता का सूचक होता है जिसके वहाँ विदग्ध होने से दुर्गन्ध उत्पन्न होता है)

अङ्गावदरणम् (किसी प्रदेश का अवदीर्ण होना या Slough हो जाना)

शोणितक्लेद:

मांसक्लेद: (रक्त तथा मांस में क्लिन्नता का आना)

त्वग्दाह: (त्वचा में दाह की प्रतीति)

त्वगवदरणम्

चर्मदलनम् (त्वचा व चर्म में व्रणभाव ulceration होने से अभिप्राय है)

रक्तकोठ: (रक्तवर्ण कोठों की उत्पत्ति (Red papules, Red Nodules)

रक्तविस्फोट: (रक्तवर्ण विस्फोट)

रक्तपित्तम् (सूक्ष्म रक्त वाहिनियों के सूज जाने एवं उनमें से रक्त के बाहर बह जाने से जो रक्त स्राव होता है उसे रक्तपित्त कहते हैं रक्त में विद्यमान तीक्ष्ण उष्ण विषैले द्रव्य के जैसे तीव्रज्वरों (Infections) में उनके विप के रक्त में फैल जाने से सुकुमार रक्त वाहिनियों की अन्दर की झिल्ली (Endothelium) पर दुष्प्रभाव होकर रक्त स्रवित होने लगता है। तीक्ष्णगुण औषधियों तथा बाह्य प्रोटीनों के उनपर दुष्प्रभाव से भी यह रक्त स्राव हो सकता है जो शरीर में पित्तप्रकोप या Inflammalion का सूचक होता है)

रक्तमण्डलानि (त्वचा पर लाल रंग के मण्डलों या Erythema या Petechiae का हो जाना भी इस बात का सूचक है कि कोई तीक्ष्ण उष्ण जहरीला पदार्थ वहाँ की रक्तवाहिनियों पर दुष्प्रभाव कर रहा है जिससे वे फैल गई हैं और वहाँ उनमें रक्त अधिक भर गया है

किसी जीवाणु विष या Virus या किसी प्रतिकूल गुण औषधि के प्रभाव से ऐसा होता है)

हरित्त्वम् (त्वचापर हरापन (Chlorosis) हरित पाण्डु का होना, जो रोग पहले युवती स्त्रियों में बहुत होता था अब नहीं होता)

हारिद्रत्वम् (पित्त की तीव्रता से रक्त कणों का अति पचन होने पर रक्त में Bilirubin तथा मूत्र में Urobilin की मात्रा बढ़ जाती है। Icteric index भी ऊंचा हो जाता है जो नार्मल ४–६ होता है। रक्त में Streptococcal विष या विषम ज्वर जीवाणु आदि के होने पर ऐसा हो सकता है)

नीलिका (जहाँ रक्तस्राव (Haemorrhage) त्वचा के नीचे हुआ होता है कुछ समय बाद वहाँ नीला सा चकत्ता रह जाता है)

कक्षा (Herpes का प्रसिद्ध रोग है जो विस्फोटिका ज्वर के समान एक पित्त रोग है जिसमें कक्ष प्रदेश में यज्ञोपवीत के आकार में विस्फोट निकलते हैं)

कामला (रक्त के अति पचन से उत्पन्न कामला अर्थात् Haemolytic jaundice जो किसी जीवाणु विष या तीव्र औषधि से होता है जिसमें रक्त के अन्दर Bilirubin अधिक बढ़ जाता है, मूत्र में Urobilinogen तथा मल में Stercobilin बढ़ जाता है तथा त्वचा पर हलका सा पीलापन होता है, अभिप्राय है। इसी प्रकार autoantibody anaemia में भी Bilirubin की अधिक उत्पत्ति होने से कुछ कामला होती है उसे भी पैत्तिक रोग कहते हैं)।

तिक्तास्यता (मुख में कड़वा स्वाद शरीर में पित्त प्रकोप का सूचक होता है संभवतः रक्त में Bile salts के बढ़ जाने तथा उनके लाला ग्रन्थियों द्वारा निकलने से ऐसा होता है)

लोहित गंधास्यता (मुख में रक्त के गंध की प्रतीति, जो रक्तवमन होने से पहले होती है)

पूतिमुखता (दन्त मांस पाक में होती है)

तृष्णाधिक्यम् (प्यास की अधिकता, शरीर में पित्तवृद्धि या oxidation की अधिकता का सूचक है)

अतृप्तिः (Hyperchlorhydia) पित्ताजीर्ण या Peptic ulcer रोग में अति क्षुधा या अतृप्ति का लक्षण होता है)

आस्यपाकः (Ulcerative stomatitis)

गलपाकः (Peritonsillar abscess)

अक्षिपाकः (Corneal ulcer)

गुदपाकः (Ischio rectal abscess)

मेढ्रपाकः (Peri urethral abscess ये सब पाक रोग या suppurative inflammations पित्त कर्म की तीव्रता के द्योतक हैं)

जीवादानम्

तमः प्रवेशः (ये दोनों पित्त वृद्धि के लक्षण स्पष्ट नहीं हैं)

मूत्रनेत्रवर्चोहरिद्रता (पित्त वृद्धि से रक्तकणों का पचन अधिक हो तो रक्त में Bilirubin, मूत्र में Urobilin, मल में Stercobilin के बढ़ने से यह लक्षण होता है)

शरीरसहजातां पित्तवृद्धिमवलोक्य पित्तप्रकृतिरसावित्याहुः—

(१) पित्तमुष्णं, तीक्ष्णं, द्रवं, विस्रम्, अम्लं, कटुकं च। तस्यौष्ण्यात् पित्तला भवन्त्युष्णासहाः, शुष्कसुकुमारावदातगात्राः, प्रभूतपिप्लुव्यङ्गतिलपिडकाः, क्षुत्पिपासावन्तः, क्षिप्रवलीपलितखालित्यदोषाः, प्रायो मृद्वल्पकपिलश्मश्रुलोमकेशाः।

तैक्ष्ण्यात् तीक्ष्णपराक्रमाः, तीक्ष्णाग्नयः, प्रभूताशनपानाः, क्लेशासहिष्णवः, दन्दशूकाः। द्रवत्वाच्छिथिल-मृदुसंधिमांसाः, प्रभूतसृष्टस्वेदमूत्रपुरीषाश्च।

विस्रत्वात्प्रभूतपूतिकक्षास्यशिरःशरीरगंधाः।

कट्वम्लत्वादल्पशुक्रव्यवायापत्याः।

त एवं गुणयोगात्पित्तला मध्यबला, मध्यायुषो,

मध्यज्ञानविज्ञानवित्तोपकरणवन्तश्च भवन्ति। (च. वि. ८)

पित्तवृद्धि शरीर में जन्म से हो तो इसे पित्त प्रकृति कहते हैं :—

पित्त उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, विस्र गुण होता है तथा मुख में अम्ल, कटुरस का उत्पादक होता है। पित्त के उष्ण गुण होने से पित्त प्रकृति के व्यक्तिओं को गर्मी कम सहन होती है, उनके शरीर कुछ शुष्क, सुकुमार (नाजुक) तथा स्वच्छ होते हैं, त्वचा पर पिप्लु व्यङ्ग तिल पिडिका निकलते हैं, भूख व प्यास अधिक लगती है, वली पलित और खालित्य के लक्षण आयु से पहले हो जाते हैं. तथा उनके लोम, केश, श्मश्रु मुलायम, मात्रा में थोड़े तथा कुछ भूरे से रंग के होते हैं।

पित्त के तीक्ष्ण गुण होने से (activating होने से) पित्त प्रकृति के लोग अपने कार्य में तीक्ष्ण होते हैं, उनकी अग्नि भी तीक्ष्ण होती है, उनके खाने पीने की मात्रा भी अधिक होती है, मन मे वे क्लेश के लिये असहिष्णु होते हैं, तथा व्यवहार में भी तीक्ष्ण होते हैं।

पित्त के द्रवगुण (Liquefy करनेवाला) होने से उनके मांस व शारीरिक संधियो में शिथिलता और मृदुता के लक्षण होते हैं। उन्हें स्वेद, मलमूत्र आदि भी अधिक मात्रा में आते हैं।

पित्त के विस्रगुण (दुर्गन्धजनक) होने से इनके कक्ष, चेहरे, सिर तथा अन्यान्य अंगों से अधिक गंध आती है (स्वेद के अधिक आने तथा उसके विदग्ध होने से यह गंध होती है)

पित्त के कटु अम्ल रस का जनक होने से (एवं इन रसों के निर्बलता जनक होने से) इन में शुक्र की मात्रा, मैथुन शक्ति तथा सन्तान कम होती है।

इन्ही उपर्युक्त कारणों से पित्त प्रकृति के व्यक्ति, मध्यम बल के, मध्यम आयु के, मध्यम ज्ञान विज्ञान के, तथा धन सम्पत्ति और सामग्री के सग्रह करने की शक्ति में मध्यम होते है।

(२) पित्तलानां तु पित्ताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने तीक्ष्णा भवन्त्यग्नयः। (च. वि. ६)

पित्त प्रकृति व्यक्तियों में अग्नि पर पित्त का विशेष दुष्प्रभाव हो तो उनमें तीक्ष्णाग्नि होने का लक्षण पाया जाता है। (च. वि. ६)

(३) मेधावी निपुणमतिर्विगृह्य वक्ता
तेजस्वी समितिषु दुर्निवारवीर्यः ।
सुप्तः सन् कनकपलाशकर्णिकारान्
सम्पश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः ।
न भयात्प्रणमेदनतेष्वमृदुः प्रणतेष्वपि सान्त्वनदानरुचिः ।
भवतीह सदा व्यथितास्यगतिः स भवेदिह पित्तकृतप्रकृतिः ॥
(सु. शा. ४)

पित्त प्रकृति का व्यक्ति बहुधा मेधावी, तीव्र बुद्धि, विग्रह करके बोलनेवाला, तेजस्वी, सभा समितियों में न हारने वाला होता है, उसे स्वप्न में लाल रंग के पदार्थ या फूल दीखते हैं या विद्युत्, अग्नि, उल्का आदि दिखाई पड़ते हैं। पित्त प्रकृति का व्यक्ति भय के सामने झुकता नहीं उद्दण्डता दिखाने वाले के लिये कठोर होता है, विनीत के प्रति सान्त्वना, तथा दान देने वाला होता है, उसके चेहरे पर सदा चिन्ता या विचारशीलता का भाव रहता है। (सु. शा. ४)

(४) पित्तलस्य पित्तनिमित्ता व्याधयः प्रायेण बलवन्तो भवन्ति । (च. वि. ६)

पित्त प्रकृति के व्यक्ति को पित्त रोग सुगमता से तथा प्रबलता से होते हैं। (च. वि. ६)

सामान्यं पित्तरोगचिकित्सितमाह—

सामान्य पित्तरोगचिकित्साविधि :—

(१) विरेचनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः । तद्धि आदित एव आमाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलमपकर्षति । तत्रावजिते पित्ते शरीरान्तर्गताः पित्तविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते । यथाग्नौ व्यपोढे केवलमग्निगृहं शीतीभवति तद्वत् । (च. सू. २०)

पित्तरोग शामक उपायों में से विरेचनको प्रधानतम कहते हैं क्योंकि आमाशय में प्रवेशकर के वह पित्तरोग के मूल को बाहिर कर देता है वहां पित्त के शान्त हो जानेपर शरीर में हुए पित्त विकार भी शान्त हो जाते हैं। जैसे अंगीठी को बाहर कर देने पर गृहशीतल हो जाता है वैसे ही शरीर में भी विरेचन से होता है।

(२) पित्तोत्तरेषु मोक्षो रक्तस्य विरेचनश्चाग्रे। (च. चि. ७)

विरेचनके समान ही रक्तमोक्षण करने से भी पित्तप्रधान रोग शान्त हो जाते हैं।

(३) पित्तं मधुर-तिक्त-कषाय-शीतै रुपक्रमैरुपक्रमेत। स्नेहविरेक-प्रदेह-परिषेका-भ्यङ्गादिभिः पित्तहरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य। (च. सू. २०)

पित्त की वृद्धि को मधुरतिक्त कषायरस आहारों, शीतगुण आहार विहार तथा देशकाल आदि के द्वारा शान्त किया जा सकता है। विरेचन के अतिरिक्त शीतस्नेह शीत प्रदेह शीत परिषेक शीत अभ्यङ्ग आदि भी मात्रा व काल का विचार करते हुए पित्त शान्ति के लिये प्रयुक्त करने चाहिए।

(४) सहस्रधौतं सर्पिर्वा तैलं वा चन्दनादिकम्।
दाहज्वर प्रशमनं दद्यादभ्यञ्जनं भिपक्॥

उदाहरणतः सहस्रधौतघृत, चन्दनातितैल आदि के अभ्यङ्ग से दाह तथा जीर्णज्वर शान्त होते हैं।

(५) प्रलेपनं पुष्करिणीमृदश्च
रक्तस्य पित्तस्य नयेत्प्रशान्तिम्। (च. चि. ४)

ठन्डी गीली चिकनी मट्टी के लेप से भी रक्त एवं पित्तरोग शान्त होते हैं।

(६) पित्तशामकानि द्रव्याण्याह—

दूर्वानन्ता निम्बवासात्मगुप्ता गुन्द्रा भीरुः शीतपाकी प्रियंगुः । न्यग्रोधादिः पद्मकादिः स्थिरेद्वे पद्मं वन्यं सारिवादिश्च पित्तम् । (वा. सू. १५)

ये द्रव्य पित्त शामक हैं—दूब, धमासा, नीम, वासा, कौंच बीज, दर्भ, शतावरी, बला, प्रियंगुबीज, न्यग्रोधादि वर्ग अर्थात् बड़, गूलर, पीपल, पिलखन, महुआ, अर्जुन, शिरीष, जामुन, आम्रबीज, पियालबीज, चोरक, मुलहटी, कटुकी, लोध्र, वेतस, सल्लकी आदि, पद्मकादि वर्ग की औषधियां जैसे पद्माक, गिलोय, धनिया, चन्दन, तथा नाना प्रकार के कमल, सारिवादिवर्ग की औषधियां जैसे सारिवा, चन्दन के सर्व भेद, काश्मर्य फल, उशीर आदि ।

(७) काकोल्यादिस्तथा पित्तशोणितानिलनाशनः ।
कषायतिक्तमधुरं कनीयः पञ्चमूलकम् ॥
वातघ्नं पित्तशमनं बृंहणं बलवर्धनम् ।
त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्ठविनाशनी ॥
चक्षुष्या दीपनी चैव विषमज्वरनाशनी । (सु. सू. ३८)

काकोल्यादि वर्ग की औषधियां जैसे मुद्गपर्णी माषपर्णी वंशलोचन, प्रपौण्डरीक, जीवन्ती आदि तथा इनके अतिरिक्त त्रिफला कफ के साथ पित्त का शमन भी करती है, लघुपञ्चमूल वातशामक होने के साथ-साथ पित्त के भी शामक हैं इनके अतिरिक्त पञ्चतृणमूल, बकुल, कुटज, पटोल, शाल्मली, कदली, खर्जूर, द्राक्षा, शृङ्गाटक, गुलाब, नेत्रवालक आदि भी पित्त शामक हैं ।

इस प्रकार ३१ वाक्योंवाला पित्तविषयक तीसरा
अध्याय समाप्त हुआ ।

कफेतिविषयकश्चतुर्थोऽध्यायः

(कफ–विषयक चतुर्थअध्याय)

(१)

कफधातोः स्वरूपमाह—

(१) 'श्लिष' आलिङ्गन एतेन कृद्विहितेन प्रत्ययेन श्लेष्मा इति रूपं भवति। (सु. सू. २१)

कफधातु का स्वरुप :—

आलिङ्गनवाचक श्लिष धातु से कृत् प्रत्यय करने पर श्लेष्मा शब्द बनता है ('क' अर्थात् जलयासोमतत्व से 'फ' अर्थात् फलित होनेवाला तत्व 'कफ' कहाता है)।

(२) सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति। तद्यथा दार्ढ्यं शैथिल्यम् , उपचयं कार्श्यम् , उत्साहमालस्यम् , वृषतां क्लीबताम् , ज्ञानमज्ञानम् , बुद्धिम् मोहम्। (च. सू. अ. १२)

'श्लेष्मा' इस नाम से सोमतत्व ही शरीर के अन्दर प्राकृतिक अवस्था में रहता हुआ शरीर के अन्दर दृढ़ता, वृद्धि और वृषता (प्रजनन या Reproduction) के भावो को उत्पन्न करता है मस्तिष्क में यह उत्साह, ज्ञान और बुद्धि का उत्पादक होता है। अप्राकृतिक अवस्था में या कुपित होने पर यही शरीर के अन्दर, शिथिलता, कृशता और क्लीबता का उत्पादक हो जाता है तथा मन में आलस्य (Ieth-argy) अज्ञान और मोह (Confusion) का उत्पादक हो जाता है।

(३) रसः, रसनम् , शैत्यम् , मार्दवम् , स्नेहः, क्लेदश्च, शरीरे अबात्मकम् (सोमात्मकम्)। (च. शा. अ. ४)

शरीर के अवयवों में जो रसता या द्रवता का लक्षण है, रसनेन्द्रिय है, शैत्य का भाव है, मृदुता, स्निग्धता क्लिन्नता के भाव हैं ये सब सोमतत्व या अप्तत्व के सूचक हैं।

(४) स्नेहो, बन्धः, स्थिरत्वञ्च, गौरवं, वृषता, बलम्।
क्षमा, धृतिरलोभश्च, कफकर्माऽविकारजम्॥

(च. सू. २१)

कफतत्व अपनी प्राकृतिक अवस्था में रहता हुआ शरीर में स्निग्धता, बन्धता (Adhesion) स्थिरता (Stability) गुरुता (weight) वृषता (Reproduction) तथा बल के भावों को कायम रखता है शरीर तथा मन में वह क्षमा (क्षमता Resistance तथा torbearance) धृति (Control, Firmness) और अलोभ (तृप्ति) के भावो को उत्पन्न करता है।

(५) स्नेहमङ्गेषु, संधीनां स्थैर्यं, बलमुदीर्णताम्।
करोत्यन्यान्गुणांश्चापि बलासः स्वाः शिराश्चरन्॥

(सु. शा. ७)

कफ अपनी शिराओं में विचरता हुआ, अङ्गों में स्निग्धता, संधियों में स्थिरता, शरीर में बल तथा मन में उत्साह को कायम रखने का काम करता है।

(६) सन्धिसंश्लेषण-स्नेहन-रोपण-पूरण-बल-स्थैर्यकृत् श्लेष्मा पञ्चधा प्रविभक्त उदककर्मणा शरीरमनुग्रहं करोति।

(सु. सू. १५)

पांच स्थानों पर विभक्त हुआ श्लेष्मा संधियों में श्लेषण शरीर के अवयवों में स्नेहन, रोपण (रोहण) पूरण (Repair) बल और स्थिरता को बनाये रखने का काम करता है इसे कफ का उदक कर्म, जल कर्म, या सोम कर्म कहा जाता है।

(२)

कफधातोर्विशेषस्थानान्याहः—

(१) उरःशिरोग्रीवापर्वाण्यामाशयो मेदश्च श्लेष्मस्थानानि । तत्राप्युरोविशेषेण श्लेष्मस्थानम् । (च. सू. अ. १०)

कफ धातु के विशेष स्थान ये हैं :—

फेफडे, शिर, गला, संधियां, आमाशय, तथा मेदा इनमें श्लेष्मा विशेषतः रहता है इन सब में भी फेफडे उसका विशेष स्थान कहाते हैं।

(२) माधुर्यात्पिच्छिलत्वाच्च प्रक्लेदित्वात्तथैव च ।
आमाशये सम्भवति श्लेष्मा मधुरशीतलः ॥

(सु. सू. २१)

आमाशय में जो श्लेष्मा है वह मधुररस तथा शीतलगुण है वह वहां प्रक्लेदन तथा पिच्छिलता उत्पन्न करने का काम करता है।

(३) यस्त्वामाशयसंस्थितः । क्लेदकः सोऽन्नसङ्घातक्लेदनात् ।

(वाग्भट सू. १२)

उसे अन्न का क्लेदक होने से क्लेदक श्लेष्मा कहते हैं।

(४) उरःस्थस्त्रिकसन्धारणमात्मवीर्येण अन्नरससहितेन हृदयावलम्बनं करोति । (सु. सू. २१)

फेफडों में रहनेवाला श्लेष्मा त्रिक (अर्थात् दो पुप्फुसों तथा हृदय) का भरण पोषण करता है तथा यह हृदय का अवलम्बक होता है।

(५) सन्धिस्थस्तु सर्वसन्धि-संश्लेषात्सर्वसन्ध्यनुग्रहं करोति । (सु. सू. २१)

सधियों में विद्यमान श्लेष्मा स्थानिक श्लेषक होता है एवं श्लेषक कहाता है।

(६) जिह्वामूलकण्ठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यक् रसज्ञाने वर्तते। (सु. सू. २१)

जिह्वामूल तथा कण्ठ में जो श्लेष्मा है उसके कारण रस ज्ञान होता है।

(७) बोधको रसनस्थायी। (वा. सू. ११)

इसे रसका बोधक होने से बोधक श्लेष्मा कहा है।

(८) शिरःस्थः स्नेहसन्तर्पणाधिकृतत्वादिन्द्रियाणामात्म-वीर्येणानुग्रहं करोति। (सु. सू. २१)

अथवा शिरःसंस्थोऽक्षतर्पणात्तर्पकः। (वाग्भट सू. २१)

शिर के अन्दर विद्यमान स्नेहक तथा इन्द्रिय तर्पकश्लेष्मा को तर्पकश्लेष्मा कहते हैं।

(३)

कफवृद्धेर्हेतवः के इत्याह—वायव्या भावा वायुम्, आग्नेयाः पित्तम् आप्याः कफं वर्धयन्तीति चाह—

कफ वृद्धि के कारण ये होते हैं :—

(१) वृद्धिस्तु वातपित्तकफानां स्वयोनिवर्धनाभ्युपसेवनाद्भवति। (सु. सू. १५)

अप्तत्व के वर्धक सर्व आहार विहार कफवर्धक होते हैं।

(२) सर्पिष्मतां नवान्नाना-मतिवेल-मतिप्रमाणेन चोपयोगः ग्राम्यानूपौदकानाञ्च मांसानां शाकतिलपललपिष्टान्न-पायस-कृशरा-विलेपी-क्षुविकाराणां क्षीर-नवमद्य-मन्दक-दधि-द्रव-मधुर-लवण-प्रायाणाञ्चोपयोगः, मृजा-व्यायामवर्जनम् स्वप्नशय-नासनप्रसङ्गश्च सर्वः श्लेष्मजननः। (च. नि. ४)

नये अन्नों के चिरकाल तक अतिमात्रा में घृत के साथ लेने रहने से, ग्राम्य अनूप तथा औदक मांसों के सेवन करते रहने से, शाक, तिल मांस पीठी से बने पकवानों. दूध से बने पकवानों, कृशरा. (माप-चावल आदि से बने आहारों) पिच्छो (चिकने आहारों) खाण्ड सेबने भोजनों, दूध, नई तय्यार हुई मद्य, मन्दकद्धि, द्रवाहारों 'मधुराहारों और लवण प्रधान आहारों के अधिक सेवन से, शरीर शुद्धि तथा व्यायाम की उपेक्षा करने से, अधिक सोने या अधिक पड़े रहने या अधिक आसन शील रहने से शरीर में श्लेष्मा की वृद्धि हो जाती है।

(३) 'दिवास्वप्न-व्यायामालस्य-मधुराम्ल-लवण-शीतस्नि-ग्ध-गुरु-पिच्छिलाभिष्यन्दि-माप-महामाप-गोधूम-तिल-पिष्टविकृ-ति-दधि-दुग्ध-कृशरा-पायसेक्षुविकारानूपौदकमांस-वसा-बिस-मृणा-ल-कसेरु-शृंगाटक-मधुर-वल्लीफल-समशनाध्यशनप्रभृतिभिः श्ले-ष्मा-प्रकोपमापद्यते । (सु. सू. २१)

'दिन में सोने से, व्यायाम के सर्वथा करने से, आलस्य में पड़े रहने से मधुर अम्ल लवणरस, शीत, स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल, अभिष्यन्दि गुण भोजनो के जैसे माष, महामाष, गेहू, तिल, पीठी से बने आहारों, दही, दूध, कृशरा (माषचावल आदि से बने आहारो) दूध से बने आहारों खाण्ड से बने आहारों, आनूप या औदकमांसों, वसा, बिस, मृणाल, कसेरु, सिघाडा मधुर वल्लीफल आदि औदक आहारो के अति सेवन से, तथा समशन और अध्यशन जैसे भोजन सम्बन्धी व्यत्ययों से श्लेष्मा प्रकुपित हो जाती है।

(४) वसन्ते निचितः श्लेष्मा दिनकृद्भासिरीरितः ।
कायाग्निं बाधते रोगांस्ततः प्रकुरुते बहून् ॥ (च. सू. ६)

शीतकाल में शरीर के अन्दर श्लेष्मा बढ़ता है वसन्त के आनेपर सूर्य की गरमी के बढ़ने पर जब यह शरीर में से प्रवृत्त होता है तो शरीराग्नि कुछ मन्द हो जाती है अतः शरीर की अग्नि या पित्ताग्नि की मन्दता से वसन्त में कफ रोग हुआ करते हैं।

(५) स शीतैः शीतकाले च वसन्ते च विशेषतः ।
पूर्वाह्णे च प्रदोषे च भुक्तमात्रे च कुप्यति ।। (सु. सू. २१)

शरीर में श्लेष्मा, स्वभावतः शीत पदार्थों या शीतविहारों के सेवन से, या शीतकाल में, या विशेषतः वसन्त काल में दिन के प्रथम भाग में या रात्रि के प्रथम भाग में या भोजन करने के तुरन्त बाद बढ़ जाया करता है ।

(६) वयोऽन्तमध्यप्रथमे वातपित्तकफामयाः ।
बलवन्तो भवन्त्येव स्वभावाद्वयसो नृणाम् ॥
(सु. सू. २१)

स्वभावतः आयु के प्रथम भाग बाल्यकाल में शरीर में कफ बढ़ा हुआ रहता है, मध्यकाल में पित्त बढ़ा हुआ रहता तथा वृद्धावस्था में वायु शरीर में बढ़ा हुआ रहता है ।

(७) जीर्णान्ते वातजा रोगा जीर्यमाणे तु पित्तजाः ।
श्लेष्मजा भुक्तमात्रे तु लभन्ते प्रायशो बलम् ॥
(च. चि. २८)

भोजन के करने के ठीक बाद शरीर में कफ बढ़ जाता है ।

भोजन के पचते समय शरीर में पित्ताग्नि बढ़ी रहती है भोजन के जीर्ण हो जाने के बाद के काल में वायु की वृद्धि हो जाती है, तथा इन्ही कालों में इनके रोग बल पकड़ लेते हैं ।

(८) बहूदक-निम्नोन्नत-नदी-वर्षगहनो, मृदुशीतानिलो, बहुमहापर्वतवृक्षो, मृदुसुकुमारोपचितशरीरमनुष्यप्रायः, कफवातरोगभूयिष्ठश्चानूपः (सु. सू. ३५)

जो प्रदेश ऊंचा नीचा होता जहाँ नदियां होती हैं या जहाँ वर्षा अधिक होती है एव जहाँ जल की प्रचुरता रहती है, जहां मन्द शीत हवायें चलती रहती हैं जहाँ बड़े-बड़े पर्वत एवं वृक्ष बहुतायत से होते

हैं जहाँ लोगों के शरीर भारी मेदस्वी एवं नाजुक होते हैं ऐसे आनूप देश में कफ रोग या कफ वात रोग विशेष होते हैं।

(९) आनूपः शिशिरपवनबहुलः पवनकफप्रायः । (च. कल्प १)

आनूपदेश में कफ रोग विशेष होते हैं।

(४)

प्रकुपितस्य श्लेष्मणः कानि लक्षणानि भवन्तीत्याह—

प्रकुपित श्लेष्मा के लक्षण ये होते हैं :—

(१) सर्वेष्वपि श्लेष्मविकारेषु श्लेष्मण इदमात्मरूपमपरिणामि, कर्मणश्च स्वलक्षणं, यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसन्देहाः श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः । तद्यथा—स्नेह-शैत्य-शौक्ल्य-गौरव-माधुर्य-स्थैर्य-पैच्छिल्य-मात्स्न्र्यानि श्लेष्मण आत्मरूपाणि एवंविधत्वाच्च श्लेष्मणः कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः तद्यथा—श्वैत्य-शैत्य-कण्डू-स्थैर्य-गौरव-स्नेह-सुप्ति-क्लेद-उपदेह-बन्ध-माधुर्य-चिरकारित्वानि श्लेष्मणः कर्माणि । तैरन्वितं श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्येत् ।

(च. सू. २०)

सर्व कफ रोगों में जिन लक्षणों को एकांश या सर्वांश में देखकर निस्संशय होकर कह दिया जाता है कि यह कफ रोग है वे ये हैं :— स्निग्धता, शीतता, शुक्लता, गुरुता, स्थिरता, पिच्छिलता, मृत्स्नता, तथा मुख में मधुर रसता। इसीलिये श्लेष्मा जब किसी अवयव में बढ़ता है तो वहाँ ये लक्षण हो जाते हैं जैसे—श्वेतिमा (रक्तिमा की कमी) शीतता (ऊष्मा की कमी) खुजली (स्राव के कारण) स्थिरता, गुरुता, स्निग्धता, सुप्तता (Numbness, संभवतः oedema के कारण) क्लिन्नता (Exudation) उपदेह (लिप्तता) बन्ध (अवरुद्धता, Thrombosis तथा adhesions की उत्पत्ति) मुखमाधुर्य (Mucus की

अधिकता से) शरीर में चिरकारिता (आलस्य) इन लक्षणों को देखकर श्लेष्मा का अनुमान कर लिया जाता है।

(२) श्लेष्माग्निसदन-प्रसेकाऽलस्यगौरवम्। श्वैत्य-शैत्य-श्लथाङ्गत्वं श्वासकासातिनिद्रताः। (वा. सू. ११)

श्लेष्मा की वृद्धि से अग्निमन्दता, मुखप्रसेक, शरीर में आलस्य, गुरुता, श्वेतिमा (अंग में रक्तिमा की कमी जैसी Oedema में होती है) शीतता, अङ्गों में मन्दता, श्वास, कास, अतिनिद्रता आदि लक्षण होते हैं।

(३) श्लेष्मा स्वाप-श्वैत्य-शैत्य-कण्डू-स्थैर्य-गौरवो-त्सेध-उपस्नेह-उपलेपान् करोति। (च. नि. ६)

श्लेष्मा कहीं पर बढ़कर उस अङ्ग में सुप्ति, श्वेतिमा, शीतता, कण्डू, स्थिरता, गुरुता, उत्सन्नता (उभार) स्निग्धता, तथा उपलेप के लक्षणों को उत्पन्न करता है।

(४) श्लेष्मक्षये रूक्षता, अन्तर्दाहः, आमाशयेतराशय शिरसां शून्यता, सन्धिशैथिल्यम्, तृष्णा, दौर्बल्यम्, प्रजागरणञ्च। (सु. सू. १५)

शरीर में श्लेष्मा का क्षय हो जाय तो शरीर में रूक्षता, अन्तर्दाह, आमाशय से अतिरिक्त आशयों तथा शिर में शून्यता हो जाने, संधियों में शैथिल्य हो जाने, अति पिपासा, दुर्बलता और निद्रा नष्ट हो जाने के लक्षण होते हैं। (Dehydration के लक्षण)

(५)

निदर्शनरूपेण काञ्चित्कफरोगानाह—

श्लेष्मविकारांश्च विंशतिमत ऊर्ध्वं व्याख्यास्यामः—तद्यथा तृप्तिश्च, तन्द्रा च, निद्राधिक्यं च, स्तैमित्यं च, गुरुगात्रता च, आलस्यं च, मुखमाधुर्यं च, मुखस्रावश्च, श्लेष्मोद्गिरणं च,

मलस्याधिक्यं च, बलनाशश्च, अपक्तिश्च, हृदयोपलेपश्च, कंठोपलेपश्च, धमनीप्रतिचयश्च (प्रविचयश्चेत्यपि पाठः) गलगण्डश्च, अतिस्थौल्यञ्च, शीताग्निता च, उदर्दश्च, श्वेतावभासता च, श्वेतमूत्रनेत्रवर्चस्त्वं च, इति विंशतिः श्लेष्मविकाराः श्लेष्मविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याता भवन्ति ।

(च० सू० २०)

(१) तृप्तिः (क्षुधानाश, चिरस्थायी आमाशय शोथ Ch. Gastritis या श्लैष्मिक अमाशय शोथ के कारण भूख का न लगना, इसी प्रकार यकृत् वृद्धि या Cirrhosis के होने पर भी आमाशय शोथ होता है तथा क्षुधा नाश का लक्षण हो जाता है)

(२) तन्द्रा (अर्धनिद्रा Drowsiness)

(३) निद्राधिक्यम् (न्यूनाधिक मूर्छा, मस्तिष्क में स्राव या Exudation के बढ़ जाने से मस्तिष्कान्तर्भार gntra cerebral pressure बढ़ जाता है तब तन्द्रालुता व निद्रालुता के लक्षण होने लगते हैं जैसे मस्तिष्क शोथ या Encephalitis lethargica नामक रोग में होता है जिसे श्लैष्मिक मस्तिष्क शोथ कह सकते हैं। चरक ने श्लेष्मा के विषय में कहा है "बहुद्रवः श्लेष्मादोषविशेषः" निदान ।४।६। अर्थात् किसी प्रदेश पर द्रव का अधिक सञ्चित हो जाना यह कफ दोष का सूचक लक्षण होता है)

(४) स्तैमित्यम् (मन्दता Lethargy का लक्षण मस्तिष्क में श्लैष्मिक शोथ का सूचक होता है।

(५) गुरुगात्रता ।

(६) आलस्यम् (शरीर में भारीपन या Malaise या आलस्य Lassitude के लक्षण श्लैष्मिक अजीर्ण या पाचकाग्नि के मन्द होने के कारण होते हैं। Hypothyroidism में पित्ताग्नि के मन्द हो जाने पर भी ये लक्षण होते हैं)

(७) मुखमाधुर्यम् (मुख का स्वाद मीठा सा रहे तो। शरीर में

कफ दोष बढ़ा हुआ है ऐसा अनुमान किया जाता है क्यों किया जाता है यह विचारणीय है)

(८) मुखस्रावः (मुख से लार का अधिक गिरना Ptyalism मुख में श्लैष्मिक शोथ–Stomatitis या आमाशय में श्लैष्मिक शोथ Ch-gastritis के कारण होता है)

(९) श्लेष्मोद्गिरणम् (मुख के द्वारा बहुत से जल का गिरना जिसे Waterbrash या Pyrosis कहते हैं यह लक्षण आमाशय में श्लैष्मिक शोथ को सूचित करता है)

(१०) मलस्याधिक्यम् (मलका अधिक आना आमाशय और आंत में श्लैष्मिक शोथ–Gastroenteritis का तथा पाचकाग्नि की मन्दता का सूचक होता है)

(११) अपक्तिः (पित्तकर्म तथा कफकर्म परस्पर विरोधीकर्म हैं पक्तिकर्म मन्द होतो समझना चाहिये कि कफकर्म बढ़ा हुआ है। अपक्ति काअर्थ Dyshepsia है)

(१२) हृदयोपलेपः (हृदय प्रदेश पर कफोपलेप की प्रतीति जैसी श्लैष्मिक अजीर्ण में होती है)

(१३) कण्ठोपलेपः (गले में श्लैष्मिक लेप या श्लैष्मिक गल शोथ)

(१४) धमनी प्रतिचयः (धमनी से अभिप्राय Artery का होता है अतः धमनियों में प्रतिचय या स्थूलता का हो जाना धमनी प्रतिचय का अर्थ है जिसे Arteriosclerosis या arteriolar sclerosis कहते हैं इनमें से प्रथम रोग में धमनी के मांसमय स्तर में तथा आभ्यन्तर स्तर में दोनों में स्थूलता होती है तथा दूसरे रोग में धमनी के आभ्यन्तर स्तर में विशेष स्थूलता होती है। यह धमनी स्थूलता का लक्षण शरीर में कफ वृद्धि का सूचक होता है)

(१५) बलनाशः (प्राकृतिक अवस्था में श्लेष्मा शरीर की स्निग्धता, गुरुता व स्निग्धता का कारण होता है अर्थात् उसको बलवान् बनाने का कारण होता है इसी लिये चरक ने कहा है कि "प्राकृतस्तुबलं-श्लेष्मा" (सूत्र १७) जब श्लेष्मा विकृत होता है तब यह बलनाश का

कारण हो जाता है अतएव श्लैष्मिक अजीर्ण श्लैष्मिक अतिसार व श्लैष्मिकज्वर में जैसे Influenza में बलनाश या Asthenia या मन्दता का लक्षण विशेष होता है)

(१६) गलगण्डः (इसका अभिप्राय गिल्हड़ या Goitre से होता है पर उसका श्लेष्म वृद्धि से क्या सम्बन्ध है यह विचारणीय है)

(१७) अतिस्थौल्यम् (अतिमेदोवृद्धि, शरीर में होनेवाले स्वाभाविक धातुपाक या Metabolism के मन्द हो जाने से अर्थात कफ कर्म के अग्निकर्म की अपेक्षा तीव्र हो जाने से भोजन में लिये गये कार्बोहाइड्रेटस तथा फैट भली प्रकार खर्च होते नहीं या पचने नहीं हैं प्रत्युत मेदा के रूप में परिवर्तित होकर शरीर में बैठने जाते हैं इनके धमनियों में बैठने से धमनी प्रतिचय या Arteriosclerosis का लक्षण होता है, रक्त भार B. P.—बढ़ जाता है पित्ताशय में पित्ताश्मरियों, वृक्क में वृक्काश्मरियों के बनने की प्रवृत्ति रहती है)

(१८) शीताग्निता (से इससे मन्दाग्निता का अभिप्राय हो सकता है जैसे श्लैष्मिक आमाशय शोथ या ch. Gastritis में होता है या शीताङ्गता अर्थात Oxygenation की मन्दता से हो सकता है जैसे कि हृदय नैर्बल्य में या Myxoedema रोग में होता है)

(१९) उदर्दः (त्वचा में रक्त वर्ण के गोलाकार चकत्तों को शीत पित्त कहते हैं। यदि ये चकत्ते श्वेतबर्ण हों अधिक उभारवाले हों अर्थात् रक्त वाहिनियों में से निकला द्रव अधिक मात्रा में एक स्थान पर सञ्चित हो जाय तो उसे उदर्द या Giant urticaria कहते हैं जो कफाधिक वायु के प्रकोप से होता है)

(२०) श्वेतावभासता—

श्वेतमूत्रनेत्रवर्चस्त्वम् (अर्थात् त्वचा, मूत्र, नेत्र तथा पुरीप में श्वेतावभासता का होना, त्वचा में श्वयथु या Oedema के होने तथा मूत्र में जल भाग के अधिक होने से तथा आंतो में श्लैष्मिक शोथ होने के कारण उनसे श्लैष्मिक स्राव के अधिक निकलने से यह लक्षण होता है)

(६)

सहजातां कफवृद्धिमेव कफप्रकृतिमाहुः—

(१) श्लेष्मा हि स्निग्ध-लक्ष्ण-मृदु-मधुर-सार-सान्द्र-मन्द-स्तिमित-गुरु-शीत-पिच्छिलाच्छः।

तस्य स्नेहाच्छ्लेष्मलाः स्निग्धाङ्गाः, श्लक्ष्णत्वाच्छ्लक्ष्णाङ्गा, मृदुत्वाद् दृष्टिसुख-सुकुमारावदातगात्राः। माधुर्यात्प्रभूतशुक्र-व्यवायापत्याः। सारत्वात्सारसंहतस्थिर-शरीराः। सान्द्रत्वा-दुपचितपरिपूर्णसर्वगात्राः। मन्दत्वान्मन्दचेष्टाऽहारविहाराः। स्तैमित्यादशीघ्रारम्भ-अल्पक्षोभविकाराः। गुरुत्वात्साराधिष्ठित-अवस्थितगतयः। शैत्यादल्पक्षुत्तृष्णासन्तापस्वेददोषाः। पिच्छि-लत्वात्सुश्लिष्टसार-सन्धि-बन्धनाः। तथाऽच्छत्वात्प्रसन्नदर्शना-ननाः, प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वराश्च। त एवं गुणयोगाच्छ्लेष्मलाः बलवन्तो, वसुमन्तो, विद्यावन्त, ओजस्विनः, शान्ता, आयुष्मन्तश्च भवन्ति। (च. वि. ८)

क्योंकि श्लेष्मा स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, मधुर, सार, सान्द्र, मन्द, स्तिमित, गुरु, शीत, पिच्छिल तथा स्वच्छ गुण का होता है अतः इस प्रकृति के व्यक्ति के अङ्गों में कफ की स्निग्धता के कारण स्निग्धता, श्लक्ष्णता के कारण श्लक्ष्णता (खरता के विपरीत पाये जानेवाला गुण) पाई जाती है। कफ के मृदुगुण होने से इस प्रकृति के मनुष्य में दर्शनीयता, सुकुमारता, और निर्मलता के लक्षण होते हैं। कफ के मधुर रस होने से (एवं शरीर का परिपोषक होने से) कफप्रकृति के व्यक्ति अधिक मैथुन शक्ति वाले एवं अधिक सन्तान वाले होते हैं। कफ के सार गुण होने से इस प्रकृति के मनुष्यों के शरीर सारिष्ठ, गठे हुए, और मजबूत होते हैं। इसके सान्द्रगुण होने से इस प्रकृति वालों

के शरीर स्थूल तथा भरे हुए होते हैं। कफ के मन्द गुण होने से इस प्रकृति के व्यक्तिओं की चेष्टा, आहार विहार आदि में मन्दता पाई जाती है। कफ के स्तैमित्य गुण (Inhibitive) होने से इस प्रकृति के लोग शीघ्रता में कोई काम नहीं करते उनमें विक्षोभ और मानस विकार कम होते हैं। कफ के गुरु गुण होने से इनकी गति नियन्त्रित व अवस्थित (ठहरी हुई) होती है। कफ के शीतगुण होने से इनमें भूख, प्यास, गर्मी, स्वेद आदि मल कम होते हैं। कफ के अच्छ गुण होने से इनके नेत्र तथा चेहरे स्वच्छ होते हैं, रंग स्वच्छ होता है, तथा इनका स्वर स्निग्ध होता है, इस प्रकार इन गुणों के एकत्रित हो जाने से श्लेष्म प्रकृति के लोग बलवान्, धनवान्, विद्वान्, ओजस्वी शान्त प्रकृति के तथा आयुष्मान् होते हैं।

(२) दूर्वेन्दीवर-निस्त्रिंशार्द्रारिष्ट-शरकाण्डानामन्यतमवर्णः, सुभगः, प्रियदर्शनो, मधुरप्रियः, कृतज्ञो, धृतिमान् , सहिष्णुरलोलुपो, बलवांश्चिरग्राही, दृढवैरश्च भवति।

शुक्लाक्षः स्थिर-कुटिलातिनीलकेशो
लक्ष्मीवाञ्जलदमृदंगसिंहघोषः।
सुप्तः सन् सकमलहंसचक्रवाकान्
सम्पश्येदपि च जलाशयान् मनोज्ञान्॥

रक्तान्तनेत्रः, सुविभक्तगात्रः, स्निग्धच्छविः, सत्त्वगुणोपपन्नः।
क्लेशक्षमो मानयिता गुरूणां ज्ञेयो बलासप्रकृतिर्मनुष्यः॥
दृढशास्त्रमतिः, स्थिरमित्रधनः, परिगण्य चिरात्प्रददाति बहुः।
परिनिश्चितवाक्यपदः सततं गुरुमानकरश्च भवेत्स सदा॥

ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणैः सिंहाश्वगजगोवृषैः।
तार्क्ष्य-हंस समानूकाः श्लेष्मप्रकृतयो नराः॥ (सु. शा. ४)

(३) द्वयोर्वा तिसृणां वापि प्रकृतीनान्तु लक्षणैः ।
ज्ञात्वा संसर्गजा वैद्यः प्रकृतीरभिनिर्दिशेत् ॥ (सु. शा. ४)

(१) कफ प्रकृति का व्यक्ति दूब के फूल, कुमुदनी के फूल, तलवार, ताजे लशुन, काने के काण्ड, आदि किसी के वर्ण का, सुन्दर, प्रियदर्शन, मधुराहार में रुचि रखने वाला, दूसरे के किये को मानने वाला, धैर्यधारी, सहिष्णु, लोभ में न आनेवाला, बलवान्, किसी नई बात को देर से पकड़ने वाला, तथा स्थिर वैर वाला होता है। उसके नेत्र श्वेतवर्ण होते. बाल स्थिर तथा गहरे रंग के होते हैं स्वर गंभीर होता है, कफ-प्रकृति काव्यक्ति धनवान् होता है स्वप्न में उसे जलाशय तथा जलके पक्षी दिखाई पड़ते हैं उसके अंग सुगठित होते हैं, उसके शरीर में एक स्निग्ध सौन्दर्य होता है, उसमें सत्वगुण पाया जाता है, वह क्लेश को सहन करने वाला, बड़ों का मान करनेवाला होता है। उसका निश्चय दृढ तथा बुद्धि पर आश्रित होता है। उसकी मैत्री स्थिर होती है उसकी संपत्ति स्थिर होती है। वह विचार पूर्वक देता है और पर्याप्त मात्रा में देता है। वह बोलता थोड़ा है पर निश्चयपूर्वक बोलता है।

उसे देखते हुए उसकी उपमा ब्रह्म, वरुण, रुद्र. इन्द्र आदि किसी देवता से या सिंह, घोड़े, हाथी, गौ बैल आदि किसी पशु से या नीलकण्ठ व हंस किसी पक्षी से दी जा सकती है।

(२) वायु, पित्त व कफ की प्रकृतियाँ तो ऊपर कही गई हैं इनमें से किन्हीं दो या तीनों के मिलजाने से नाना प्रकार की संसर्गज प्रकृतियाँ भी बन जाती है। (सु० शा० ४)

(७)

सामान्यं कफरोगचिकित्सितमाह—

(१) श्लेष्मणो विधिना युक्तं तीक्ष्णं वमनरेचनम् ।
अन्नं रूक्षाल्प-तीक्ष्णोष्णं कटुतिक्त-कषायकम् ॥

दीर्घकालस्थितं मद्यं रति-प्रीति-प्रजागरः।
अनेकरूपो व्यायामः, चिन्ता रूक्षं विमर्दनम् ॥
विशेषाद्वमनं यूषः, क्षौद्रं मेदोघ्नमौषधम्।
धूमोपवासगण्डूषा निस्सुखत्वं सुखाय च ॥
(वाग्भट सू. १३)

कफ रोगों का सामान्य चिकित्साक्रम :—

श्लेष्म रोगों की निवृत्ति के लिये उसे तीक्ष्ण वमन तथा तीक्ष्ण विरेचन कराना चाहिये, भोजन स्वल्प मात्रा में देना चाहिये तथा जो रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण, गुण हो स्वाद में कटु, तिक्त तथा कषाय हो ऐसा देना चाहिये। पुरानी मद्य से भी कफरोग शान्त होता है। अनेक प्रकार की व्यायामों से तथा शरीर का रूक्षमर्दन करने से भी बढ़ा हुआ कफ शान्त होता है। उपवास करने से या भ्रमण और शारीरिक श्रम करने से कफवृद्धि शान्त होती है। धूमपान करने, पुप्फुसों में सञ्चित कफ के निकलने से नाना प्रकार के गण्डूषो के करने से, 'केवल यूषों पर कुछकाल रहने से या मधु का सेवन करने से शरीर में बढ़ा हुआ कफ शान्त होता है। वमन लेने से विशेषतः कफ शान्त होता है।

(२) वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः। तद्धि आदित एव आमाशयमनुप्रविश्य उरोगतं केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमूर्ध्वमुत्क्षिपति। तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते। (च. सू. २०)

कफ शामक उपायों में से वमन को प्रधान उपक्रम माना जाता है क्योंकि उससे आमाशय तथा पुप्फुसों में से सब विकृत श्लेष्मा निकल जाती है उसके निकल जाने पर शरीर में कहीं पर भी कफ-विकार हो तो वह शान्त हो जाता है।

(३) कफं स्वेदवमनशिरोविरेचनव्यायामादिभिरुपक्रमेत् श्लेष्महरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य ।

(च. सू. ३०)

कफ को स्वेदन विधि, वमन, शिरोविरेचन तथा व्यायाम के युक्तियुक्त प्रयोग से शान्त करना चाहिये ।

(४) कफशामकद्रव्याणि—

आरग्वधादिरर्कादिर्मुष्ककाद्यसनादिकः ।
सुरसादिः समुस्तादिर्वत्सकादिर्बलासजित् ॥

(वाग्भट सू. १५)

आरग्वधादि, अर्कादि, मुष्ककादि, असनादि, सुरसादि, मुस्तकादि तथा वत्सकादिवर्ग की औषधियां कफ का शामक होती हैं । प्रायः कटुतिक्त कषायरस औषधियां कफहर होती हैं ।

सामान्यतः पञ्चकोल, त्रिजातक, त्रिकटु, चव्य, इलायची छोटी, अजवायन, जीरा, हींग, विडङ्ग, वचा, आरग्वध, त्रिफला, निम्ब, सप्तपर्ण, चिरायता, पटोल, कटुकी, अतिविषा, गुडूची, कुटज, इन्द्रयव, पाठा, विषमुष्टी, तुलसी के सर्वभेद, कट्फल, रास्ना, मदनफल, खदिर, लोध्र, साल, असनवृक्ष, सर्जवृक्ष, धव, बृहत्पञ्चमूल, मुस्ता, दोनों हल्दी, कुष्ठ, वचा, भल्लातक, अपामार्ग आदि आदि औषधियां कफ शामक होती हैं ।

इस प्रकार ३५ वाक्यों वाला कफविषयक
चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ।

वक्तव्य

त्रिदोष संग्रह के प्रथम अध्याय का सारांश

रसायन शास्त्र में हम व्यक्त पदार्थों को अव्यक्त तत्वों से उत्पन्न होता हुआ तथा अन्त में उन्हीं में विलीन होता हुआ पाते हैं। इसीलिये सांख्य दर्शन का यह कथन कि व्यक्त जगत् की उत्पत्ति अव्यक्त प्रकृति से होती है (अव्यक्ताद् व्यक्तय: सर्वा:) सत्य ही है। उस अव्यक्त प्रकृति को वे सत्वरजस्तमोमय मानते हैं एवं सर्व उत्पन्न पदार्थों को भी वे न्यूनाधिक रूप से सात्विक राजस एवं तामस कहते हैं। सत्व से अभिप्राय प्रकाश, प्रसाद या अग्नितत्व (Light) से होता है। रजस् से अभिप्राय गतितत्व (Energy) से होता है और तमस से अभिप्राय स्थितितत्व (Inertia) से होता है। उदाहरण के तौरपर जब मन में प्रकाश, प्रसाद या ज्ञान का भावविशेष होता है तो उसे सात्विक कह दिया जाता है जब उसमें प्रवृत्ति या गति का भाव विशेष होता है तो उसे राजस और यदि उसमें अप्रवृत्ति या स्थिति का भाव विशेष होता है तो उसे तामस कहते हैं।

सांख्यशास्त्री आठ पदार्थों को प्रकृतितत्व और १६ पदार्थों को विकृतितत्व कहते हैं। उनके अनुसार अव्यक्त प्रकृति में से पहले बुद्धितत्व (Cosmic intelligence) उत्पन्न होता है। उसके बाद अहंकार या व्यक्ति भाव (Individuality का भाव) उत्पन्न होता है जो एक तो भूतादि, दूसरा तैजस, तीसरा वैकारिक होता है। भूतादि अहंकार से तैजस अहंकार की सहायता से आकाशादि पञ्चभूत उत्पन्न होते हैं। वैकारिक अहंकार से तैजस अहंकार की सहायता से जड़ जगत को जानने वाली ११ इन्द्रियां और पांच ज्ञानेन्द्रियों के विषय शब्द स्पर्श रूप रस गंध उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अव्यक्त प्रकृति, बुद्धितत्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्र (या पञ्चभूत) ये आठ मूलप्रकृति कहाते हैं तथा शेष १६ तत्व विकृतितत्व कहाते हैं।

वेदान्तशास्त्री मूलप्रकृति एवं पञ्चभूतों को—जिनसे यह जगत् बनता है—आत्मतत्व से उत्पन्न होनेवाला कहते हैं उनके मत में एक अक्षरतत्व या आत्मतत्व में से आकाश या अवकाश (Space) जो एक निश्चल निर्मल एवं अप्रतिषेधक (Non resistant) तत्व है वह उत्पन्न होता है यह सत्वगुण या प्रसाद गुण प्रधान होता है और इसमें एक शब्द का गुण होता है।

आकाश तत्व में विकास की प्रक्रिया के होने से एक गतितत्व या विद्युत् (Energy) उत्पन्न होता है जिसे गति शील होने के कारण वायु कहते हैं यह प्रकृति के रजोगुण से उत्पन्न होता है इसके संघर्ष शील होने से इस में शब्द के अतिरिक्त स्पर्शगुण भी होता है।

वायुतत्व के संघर्ष का कारण होने से स्वभावतः उससे अग्नितत्व उत्पन्न हो जाता है जिसके प्रसाद या प्रकाश गुण होने से उसे प्रकृति के सत्वगुण से तथा गतिगुण होने से उसे प्रकृति के रजोगुण से उत्पन्न माना जाता है। शब्द तथा स्पर्श गुणों के अतिरिक्त इसमें रूपगुण भी उत्पन्न हो जाता है।

अग्नितत्व के उत्पन्न होने से प्रकृति में द्रवता या तरलता (Liquidity) का भाव उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है जिसे अप्तत्व कहते हैं। इसमें एक तो प्रसाद का भाव होता दूसरे अणुओं (molecules) में कुछ स्थिरता के उत्पन्न हो जाने का भाव भी होता है अतः तरलता या द्रवता के तत्व को सत्व रजोगुणप्रधान कहा जाता है। इस तत्व में शब्द स्पर्श रूप के अतिरिक्त रसका भी गुण उत्पन्न हो जाता है।

अब तरलता के उत्पन्न होते ही उसका अवश्यम्भावी परिणाम घनता या संघात का उत्पन्न हो जाना है (संघातवती पृथ्वी) संघात (Solidity) को ही पृथ्वीतत्व कहा है। इसमें स्थिति गुण के विशेष होने से इसे तमोगुण प्रधान कहा जाता है। इसमें शब्द स्पर्श रूप रस के अतिरिक्त गन्ध गुण उत्पन्न हो जाता है।

सर्व पदार्थों को इन पांच तत्वो से बना हुआ कहा जाता है। शरीर में प्रयोग करके यह जाना जाता है कि किसी पदार्थ में कौन सा तत्व प्रधानता से विद्यमान है जिस किसी द्रव्य में कोई तत्व प्रधानता से

रहता है उसका प्रयोग चिकित्सा में किया जाता है। जिस पदार्थ के प्रयोग से जीवित शरीर में स्थिरता या मूर्तता या वृद्धि का प्रभाव विशेष होता है उसे पार्थिव द्रव्य कहते हैं। जिस पदार्थ या भाव के प्रयोग से अवयवों में द्रवता या क्लेद के भाव की वृद्धि होती है उसे अप्तत्व प्रधान भाव या द्रव्य कहते हैं। जिस पदार्थ में ये दोनों उपर्युक्त प्रभाव विशेषता से होते हैं उसे आयुर्वेद के ज्ञाता लोग कफवर्धक कहते हैं। जिस द्रव्य या भाव के शरीर में प्रयोग करने से उसमें पक्तिकर्म या अग्नि कर्म की वृद्धि होती है उसे आग्नेय भाव या द्रव्य कह दिया जाता है आयुर्वेद शास्त्र में ऐसे द्रव्य को पित्तवर्धक कहा जाता है। जिस भाव या पदार्थ के लगातार प्रयोग करने से शरीर के अंगों में चेष्ठा, चलता या विक्षोभशीलता (Excitability) की वृद्धि होती है उसे वायु तत्व प्रधान भाव या द्रव्य कहा जाता है। जिस भाव या द्रव्य के प्रयोग से शरीर की धातुओं में छिद्रता या अवकाश (Decay या Porosis) की वृद्धि होती है उसे आकाश प्रधान भाव या द्रव्य कहा जाता है। आयुर्वेद ग्रन्थ इन दो प्रकार के द्रव्यो को वायुवर्धक कहते हैं।

त्रिधातुसिद्धान्त—

आयुर्वेद शास्त्री लोग शरीर को पाञ्च भौतिक न कह के त्रिधातुज कहते हैं अर्थात वे प्राणी शरीर को वायु पित्त कफ इन तीन धातुओ से बना हुआ मानते हैं। आकाश और पृथ्वी तत्वों के निष्क्रिय होने के कारण वे इन्हें छोड़ देते हैं अथवा वे वायु में ही आकाश का तथा कफ में पृथ्वी तत्व का समावेश कर लेते हैं। आयुर्वेद, शरीर की सर्व क्रियाओं को मूलतः वायु पित्त और कफ इन तीन धातुओं के द्वारा संचालित हुई मानता है। अर्थात् शरीर के एक सेल में या उसके प्रोटोप्लाज्म तथा न्यूक्लियस में दीखने वाली गतिओ और चेष्टाओं को वह वायु का कार्य कहता है। सेल के अन्दर आहार द्रव्यो को लेकर हजम कर लेने और ऊष्मा को उत्पन्न करने का जो गुण है उसे वे पित्त या देहाग्नि का कार्य कहते हैं। सेल के अन्दर आहार द्रव्यो से अपनी रचना करने, वृद्धि करने या अपने जैसे दूसरे सेलों को उत्पन्न करने

का गुण है उसे वे कफकर्म कहते हैं इस प्रकार जबतक ये गति पक्ति और स्थिति के तत्व या वायु पित्त और कफ किसी सेल में या अवयव में सम अवस्था में रहते हैं अर्थात् सहयोग के साथ संतुलित रहते हुए कर्म करते हैं वह सेल या अवयव स्वस्थ कहाता है। जब उसमें इसमें से एक दो या सब न्यूनाधिक प्रकुपित (Excited) हो जाते हैं एवं उस अवयव में किसी प्रकार का गतिकर्म या पक्ति कर्म या वृद्धि कर्म बढ़ जाता है अर्थात् उसमे वायु पित्त और कफ विषम या असंतुलित हो जाते है तब उसे रुग्ण कहा जाता है। मानसिक संस्थान में भी जबतक सत्व रजस् तमस् अर्थात् प्रसाद गति और स्थिति के भाव सम या सन्तुलित अवस्था में रहते हैं मन स्वस्थ कहाता है जब उसमें गति या प्रवृत्ति का भाव या रजोगुण अथवा स्थिति या अप्रवृत्ति का भाव या तमोगुण बढ़ जाता है तो ऐसे असन्तुलित मनको रुग्ण कहा जाता है।

वायुविषयक दूसरे अध्याय का सारांश

वायुधातु—

शरीर के छोटे से छोटे अवयव में जो गतिकारक तत्व रहता है या यों कहें कि प्रत्येक सेल जो गतिमय या Electrically charged है जिसकी गति को Biodynamism या Animal electricity भी कह सकते हैं या उसमें जो सहजगति (Spontaneous movement) है उसे प्राचीन काल से लोग वायु या वात (Vital energy) कहते आये हैं इसका आरम्भ डिम्बवीज और शुक्रकण से होता है तथा इसकी वृद्धि भोजन से प्राप्त वायुतत्व के द्वारा होती है। शरीर के सेलों और सूत्रों में विद्यमान इस विद्युत् तत्व के द्वारा शरीर की सर्व चेष्टायें ठीक वैसे ही सम्पादित होती है; जैसे रसायन शास्त्र में रासायनिक क्रियायें विद्युत् संचालित अणुओ या Molecules के द्वारा होती हैं।

इसी तत्व के द्वारा वाह्य विषयो की प्रतीति होती है (सम्प्राप्तिं-विषयेषु च) इसी के द्वारा शरीर की सर्व क्रियायें यथोचित रूप से होती हैं (क्रियाणामानुलोम्यंच) मस्तिष्क में होनेवाला बुद्धि कर्म भी इसी

के द्वारा सम्पन्न होता है (अमोहं बुद्धिकर्मणाम्) आयुर्वेद इस के स्वरूप को अव्यक्त कहता है केवल इसके कर्म ही व्यक्त होते हैं (अव्यक्तो व्यक्तकर्मातु) इसकी शक्ति के विषय में सुश्रुत ने इसे बड़ा बलशाली कहा है (अचिन्त्यवीर्यः) इस विषय में इतना कथन पर्याप्त है कि कृत्रिम हृदय के साथ जो बेटरी लगाई जाती है उसे हर पांच साल के बाद बदलना पड़ता है परन्तु असली हृदय ८०-१०० वर्ष तक जो लगातार काम करता है वह जितनी शक्ति खर्च करता है उतनी एक बड़ी एञ्जिन में भी नहीं पाई जाती। शरीर को यह वातिक बल, भोजन से ठीक वैसे ही मिलता है जैसे एञ्जिन को कोयले से या मोटर को तेल से मिलता है।

सुश्रुत ने इस वायु को शिराओं में विचरनेवाला भी कहा है (स्वाः शिराः पवनश्चरन्) जिससे पता लगता है कि वह नाडीमण्डल या Nervous system को इसका प्रधान स्थान कहता है।

प्राण—मस्तिष्कस्थ उस वायु को जो इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करता तथा उनसे चेष्टायें कराता है अन्न को ग्रहण कराता है (Deglutition)। श्वास का संचालन करता है (Respiratory centre) तथा मनन एवं चिन्तन का कारण होता है, प्राण वायु कहा है (इन चेष्टाओं के केन्द्र मस्तिष्क में पाये जाते हैं)

उदान—पुफुस की उस शक्ति को जो हवा को ऊपर की ओर फेंकती है, जिसके कण्ठ में से निकलने से आवाज उत्पन्न होती है, उदान कहते हैं।

समान—पक्काशय में विद्यमान, पाचक रसों को प्रवृत्त करनेवाले बल को या वायु को समानवायु कहते हैं।

अपान—जो बल या वायु, मलमूत्र गर्भआर्तव शुक्र आदि को अधः-प्रवृत्त करता है उसे अपान वायु कहते हैं।

व्यान—रस रक्त स्वेद आदि के वहन करने वाले (Haemodynamism) वायु को एवं अनैच्छिक गतियों के कारण भूत बल या वायु को व्यान कहा गया है। नाडियों (Nerves) में विचरनेवाली वायु को भी आयुर्वेद ग्रन्थों तथा उपनिषदों में व्यान कहा है (आसुव्यानश्चरति)।

इस प्रकार हृदय आंत आदि नाना अंगों की मांसपेशियों में जो सहज चेष्टा शक्ति है-जो इन मांसपेशियों को शरीर से पृथक् करने पर भी इनमें कुछ काल जारी रहती है वायु कहा गया है। नाड़ियों के द्वारा जैसे Parasympathetic या Sympathetic सूत्रों के द्वारा यह अधिक या न्यून हो जाती है। नाडियों में चलने वाली विद्युत् समान शक्ति को भी वायु कहते हैं।

वायुवृद्धि—वायु को चरक ने आयु कहा है उसने इसे 'प्राण' भी कहा है इस लिये इसे 'जीवनतत्व' या 'प्राण तत्व' कह सकते हैं। जब यह वायु शरीर के किसी अङ्ग में हीन या मन्द हो जाता है तो उसमें चलता अस्थिरता या विक्षोभशीलता का लक्षण उत्पन्न हो जाता है अर्थात् वहां स्तम्भ (Spasm) संकोच, कम्प स्पन्दन आक्षेप आदि कोई सा लक्षण होने लगता है। वायुतत्व या जीवनीय तत्व की इस न्यूनता की अवस्था को चेष्टाधिक्य के कारण वायु वृद्धि की अवस्था कहते हैं।

इसी प्रकार किसी अंग में वायु के हीन या मन्द हो जाने से अर्थात् उस अंग के प्राणतत्व के कम हो जाने से उसमें शूल या तोद या व्यथा या हर्ष (Hyperaesthesia) आदि का कोई संज्ञासूचक दुर्लक्षण होने लगे तो उसे भी संज्ञाशीलता के अधिक हो जाने के कारण वायु वृद्धि की अवस्था कहते हैं।

रक्तवाहिनियों की दीवारों में क्षीणता (arteriosclerosis) के हो जाने से या उनमें स्तम्भ के हो जाने से जैसा कि उनकी प्राणशक्ति के हीन हो जाने से होता है किसी अंग में जो शीतता का लक्षण होता है उसे भी वायुवृद्धि कहते हैं। इसी प्रकार जिस अवयव में प्राणतत्व क्रमशः मन्द मन्दतर होता जाता है उसकी स्वाभाविक मृदुता कम हो जाती है अर्थात् वहां स्नायुतन्तु (fibrous tissue) आता जाता है जिससे रूक्षता का लक्षण उत्पन्न हो जाता है। जिस अवयव का पोषण कम हो जाता है एव जिसका प्राणतत्व मन्द हो जाता है उसमें खरता (Calcification Sclerosis या Hyalinisation) का लक्षण भी हो जाता है।

जिस अवयव का पोपण कम होता जाता है एवं जिसमें प्राणतत्व की न्यूनता विशेष हो जाती है उसकी वृद्धि रुक जाती है। एवं उसमें लघुता (Atrophy) का भाव भी उत्पन्न हो जाता है इसीलिये वायु के लक्षणों में अर्थात् प्राण तत्व के विकृतिसूचक लक्षणों में चलता के अतिरिक्त शीतता, रूक्षता, खरता लघुता आदि तथा सुप्ति (Numbness) हर्ष (Hyperaesthesia) शूल आदि की गणना की जाती है।

वातक्षय—उस अवस्था को जिसमें किसी अंग का वायुतत्व या प्राणतत्व अतिमन्द हो जाता है अर्थात उस अंग में चेष्टा क्षीण हो जाती है या किसी स्थान की संज्ञाशक्ति (Sensation) न्यूनाधिक लुप्त हो जाती है या ऐसी मानसिक शक्तियां जैसे वाक्-शक्ति, बोधशक्ति, या भावों को प्रकट करने की शक्ति अति मन्द हो जाती है वातक्षय की अवस्था कहते हैं।

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि किसी अंग की सहज जीवनी शक्ति या प्राण शक्ति जब न्यून मात्रा में कम होती है तो अति चेष्टा, अतिसंज्ञाशीलता (Hyperaesthesia) या स्तम्भ संकोच कम्प आक्षेप आदि वायुवृद्धि कहाने वाले लक्षण होते हैं। इसके विपरीत जब किसी अवयव की प्राणशक्ति अधिक मात्रा में क्षीण हो जाती है और वहां चेष्टा हीनता और संज्ञाहीनता के लक्षण (Paresis, Anaesthesia) हो जाते हैं इस अवस्था को वातक्षय की अवस्था कहते हैं। इसीलिये वाग्भट ने ठीक ही कहा है "क्षयोवृद्धेस्तु पीड़नः" कि दोप की वृद्धि के लक्षणों की अपेक्षा उसके क्षय के लक्षण अधिक भयंकर होते हैं।

वायुवृद्धि के कारण—शरीर के प्राणतत्व को कम कर देने वाले भाव जिनसे वायु वृद्धि होती है प्रधानतः ये होते हैं जैसे आहार हीनता या पोषक आहार की हीनता, शारीरिक तथा मानसिक अभिघात, मानसिक सन्ताप, चिन्ता, शोक, क्रोध, भय आदि का देर तक रहना, बाह्याभ्यन्तर विषपदार्थ, अतिश्रम, अतिजागरण, अतिशीतस्पर्श इत्यादि यदि किसी अवयव को निरन्तर विक्षुब्ध (या tension में) रखा जाय तो उसका प्राणतत्व या वायु क्षीण हो जाता है। दिन के अन्त, रात्रि के अन्त,

ग्रीष्म काल के अन्त तथा आयु के अन्तिम चरण में भी शरीर में वायु तत्व की मन्दता होती है।

वायुप्रकोप—जब किसी अंग का सहज प्राणतत्व या वायु उपर्युक्त कारणों से पहले ही क्षीण या हीन होता है और उस पर कोई विक्षोभक कारण आ पड़े तो उस विक्षोभक कारण के विपरीत उस अंग में वायु की स्तम्भ संकोच आदि के रूप में जो प्रतिक्रिया होती है उसे वायु प्रकोप या वायु रोग कहते हैं। बाह्यशीत या बाह्याभ्यन्तर कोई विक्षोभ या विष पदार्थ इस प्रकोप का तात्कालिक कारण होता है। वायु का प्रकोप न होकर वायु या प्राणतत्व और भी अधिक मन्द हो जाय जिससे शैथिल्य (Dilatation) या कुछ क्षीणता (Degeneration या Necrosis) की प्रक्रिया हो जाय तो उसे भी वायु (क्षय) रोग कहते हैं।

वातिक प्रकृति—(Asthenic or Nervous temperament) जब जन्म से ही शरीर का पोषण मन्द हो अर्थात् उसका प्राणतत्व निर्बल हो, शरीर में रूक्षता, खरता, लघुता, चलता (अस्थिरता) तथा शीत व्यायाम आदि से शीघ्र प्रभावित हो जाने का दोष हो तो उसे वातिक प्रकृति का कहते हैं।

वायु रोगों की चिकित्सा—

ऐसे आहार जो शरीर के पोषण को बढ़ाने वाले हों अर्थात् मधुर अम्ल लवण रस, स्निग्ध उष्ण गुरुगुण भोजन पान उसे देने चाहियें। शिर नाक शरीर आदि का स्निग्ध अभ्यंग, स्वेदन, उत्सादन आदि भी प्राणशक्तिवर्धक होते हैं। बल्य, बृंहण मनःप्रसादक (Tranquilliser) औषधियां तथा निद्रा और विश्राम वायुरोगशामक होते हैं। शोधन आवश्यक हो तो निरूह तथा अनुवासन वस्ति का प्रयोग करना चाहिये। संक्षेपतः शरीर के वायुतत्व या प्राणतत्व या जीवनीय तत्व को बढ़ाने वाले जो आहार-विहार, औषध आदि हैं उनका प्रयोग वायुप्रकोपशामक होता है।

औषधियों में से दशमूल, विदार्यादि, वीरतरादि, जीवनीय, रास्नादि

गणों की औषधियां तथा अन्य उष्ण, स्निग्ध, गुरु, बल्य, बृंहण जीवनीय औषधियां या उपाय वायुरोगशामक होते हैं। दशमूल क्वाथ को शहद के साथ, रसोन कल्क को तैल के साथ, या हींग को एरण्ड तैलके साथ या गुग्गुलु को हरीतकी के साथ या महायोगराज या सिंहनादगुग्गुलु के रूप में दे सकते हैं। कुलत्थ व माप भी वायु-शामक हैं। साधारणतः वायुतत्व की कमी को पूर्ण करने के लिये अश्वगंधारिष्ट, अश्वगंधाघृत, जीवनीयघृत, दशमूलारिष्ट, लक्ष्मीविलास, मुक्तापञ्चामृत-चतुर्मुखचिन्तामणि, बृहद्वातचिन्तामणि, वसन्तकुसुमाकर, योगेन्द्ररस, बाहुशालगुड़, शतावरीघृत, शिलाजतु, चन्द्रप्रभावटी आदि का प्रयोग किया जाता है।

पित्त विषयक तीसरे अध्याय का सारांश

पित्तधातु—वायु के समान पित्त भी एक अव्यक्त तत्व है उसके कर्म ही केवल व्यक्त होते हैं जिससे उस अप्रत्यक्ष तत्व का अनुमान किया जाता है। शरीर के प्रत्येक सेल में जैसे वायुकर्म या प्राण-कर्म हो रहा है जिसे पूरी तरह से देखने वाले लोग बताते हैं कि उनको देखकर तो सेल एक भारी फैक्टरी के समान प्रतीत होता है। वैसे ही विद्वान लोग बताते हैं कि एक सेल में या उसके माइटो-कोन्ड्रिया में अनेकानेक पाचक रस या Enzymes हैं जिनमें से प्रत्येक अपने अपने रासायनिक परिवर्तन में व्यस्त है। उनके कर्म को देखने वाले परीक्षक लोग बताते हैं कि प्रत्येक सेल एक बड़ी लेबोरेटरी के समान प्रतीत होता है। सेल के चारों ओर ग्लूकोज व आक्सिजन प्रभूत मात्रा में होते हैं। सेल के अन्दर Phosphore-lated ग्लूकोज, amino acids, phosphatides Co_2 आदि अधिक होते हैं। वहां Glycolysis प्रभूत मात्रा में होता है जिससे पता लगता है कि सचमुच सेल एक लेबोरेटरी का सा काम करता है। वहां अनेक पदार्थ उत्पन्न होते एवं पचन या Catabolism भी होता है। इन से जो ऊष्मा उत्पन्न होती है उससे जीवित शरीर गर्म रहता है। इस देहाग्नि को या अग्नितत्व को जो वायुतत्व की तरह प्रत्येक सेल

में विद्यमान है जिसके कारण Enzymes उत्पन्न होते हैं ताप का कारण होने से पहले लोगों ने पित्त कह दिया ऐसा लगता है। शरीर के प्रत्येक सेल में प्रभूत मात्रा में उत्पन्न होने वाली यह रासायनिक शक्ति Chemical energy शरीर के प्राणतत्व Vital या Physical energy के पोषण व प्रवर्धन का काम करती है, इस प्रकार वायु से पित्त का तथा पित्त से वायु का कार्य भली प्रकार चलता है। इसी से इन के परस्पर सहयोग या समावस्था में रहने पर शरीर स्वस्थ रहता है। सेल के अन्दर Adenosine triphosphate जो बनता है वह एक महान् शक्ति का स्टोर होता है। इसीलिये सेलों को ग्लूकोज तथा आक्सिजन का मिलते रहना आवश्यक होता है। सेल के आस पास यदि कोई विषैला तत्व आजाय तो उसके Enzymes पर उसका विषैला प्रभाव पड़ता है एवं उसमें चलने वाला पित्तकर्म या अग्निकर्म मन्द पड़ जाता है।

पाचकपित्त या अन्नपाचक अग्नि—

अन्नमार्ग में स्थित जो अग्नि अनेकानेक पाचकरसों Enzymes को उत्पन्न करके उनके द्वारा भोजन के भिन्न भिन्न तत्वों को पचा लेने का काम करती है उसे अन्नपाचक अग्नि कहते हैं। देहाग्नि की उपस्थिति में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, फैट आदि कोई भोजन तत्व शरीर में आये तो उसको पचाने वाला तत्व Enzyme वहां उत्पन्न हो जाता है। इस पाचक पित्त को सर्वदेहाग्नियों में प्रधान माना जाता है तभी गीता में भगवान् ने कहा है कि "अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः" अन्न मार्ग में प्रोटीन के आने पर वहां क्रमशः ऊपर से नीचे की ओर पेप्सिन, ट्रिप्सीन, इरेप्सिन उत्पन्न हो जाते हैं। तथा वहां फैट के आने पर Lipase उत्पन्न हो जाता है। कार्बोहाइड्रेट के आने पर Ptyalin Amylopsin, Invertase आदि पाचकरस ऊपर से नीचे की तरफ उत्पन्न हो जाते हैं।

रञ्जक पित्त—यकृत व प्लीहा को रञ्जक पित्त का स्थान

कहा है नवीन शारीर क्रिया विज्ञान ने यह सिद्ध कर ही दिया है कि यकृत् से एक तत्व (Haematinic factor) रक्त द्वारा मज्जा में जाकर रक्त-निर्माण का कार्य करता है। इसी प्रकार प्लीहा भी रक्त-कणों (Monocytes Lymphocytes) के निर्माण में सहायक होती है वहां पुराने हुए हुए रक्तकणों व श्वेतकणों का पाक भी होता रहता है। इसीलिये आयुर्वेद में यकृत् तथा प्लीहा को पित्त का प्रधान या पचन क्रिया का प्रधान स्थान कहा गया है।

साधक पित्त या विचार साधक पित्त—

मानसिक दशायें भी मस्तिष्कस्थ पित्त के द्वारा उत्पन्न Enzymes के स्वस्थ या अस्वस्थ रूप में कार्य करने से उत्पन्न होती हैं ऐसा चरकने कहा है। वह कहता है कि मस्तिष्क में पित्त के समावस्था में कार्य करने से साहस का, हर्ष का भाव रहते हैं तथा सूझबूझ भी ठीक रहती है। पित्त के अस्वस्थ हो जाने से इनके विपरीत भय तथा क्रोध के भाव उत्पन्न हो जाते तथा मोह अर्थात् Confusion या व्यामोह का भाव उत्पन्न हो जाता है। इस विषय में इतना तो कहा जा सकता है कि मस्तिष्क में कुछ Enzymes (Monoamine oxidase आदि) हैं जिनके घटने से Serotonin adrenaline तथा Noradrenaline बढ़ते हैं तथा उन Enzyms के बढ़ने से Parasympathetic अथवा Sympathetic नाडीमण्डल उत्तेजित हो जाते हैं क्योंकि Serotonin, adrenaline आदि घट जाते हैं। एवं नाना मानसिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। मस्तिष्क की इस पित्ताग्नि को विचारसाधक पित्त कहा गया लगता है।

भ्राजक पित्त—आयुर्वेद कहता है कि त्वचा में जो एक आभा या प्रभा प्रतीत होती है वह वहां पर होने वाली पित्तप्रक्रिया का परिणाम है। इसका स्पष्टीकरण कठिन है। इतना तो प्रतीत होता है कि त्वचा में स्वेद बनता है, Sebum (स्नेह) तय्यार होता है, विटामिन 'डी' भी उत्पन्न होता है, वहां पर रक्त की मात्रा भी प्रभूत मात्रा में रहती है। ये सब बताते हैं कि वहां पचनप्रक्रिया विशेषता से होती

है एवं त्वचा भी एक पित्त का विशेष स्थान है। जब तक यह स्वस्थ अवस्था में रहता है त्वचा पर स्वाभाविक कान्ति बनी रहती है।

आलोचक पित्त—

नेत्र के पश्चिम पटल (Retina) में स्थित आलोचन में सहायक पित्त को आलोचक पित्त कहा है। इस विषय में इतना कहा जा सकता है कि वहां पर विद्यमान Visual purple नजर का कारण होता है प्रकाश से यह बदल जाता है 'Retinene प्रोटीन' बन जाता है फिर यह एक Enzyme, Retinine, reductase के द्वारा Visual purple बन जाता है। इस प्रकार मध्यम प्रकाश में भी देखने की शक्ति बनी रहती है। आलोचन में सहायक इस पित्तकर्म को देखकर नेत्र को पित्त का स्थान कहा गया लगता है।

पित्तवृद्धि—

शरीर का जब कोई प्रदेश आहत व क्षत होता है जिससे उस प्रदेश के कुछ सेल व सूत्र मर जाते हैं तो उनका पाक करने अर्थात् उन्हें द्रवरूप या पूय रूप में परिवर्तन करके उन्हें बाहर कर देने का काम पित्त या अग्नि के द्वारा होता है जिससे वहां अग्नि बढ़ जाती है जो उस मृत भाग का पाक करके उसे बाहर कर देती है। उसके बाहर हो जाने पर फिर वह प्रदेश भरकर पूर्ण हो जाता है। अभिप्राय यह है कि आघात से या किसी प्रकार की क्षति पहुंचने से या किसी प्रकार के जीवाणु के द्वारा किसी प्रदेश के क्षत हो जाने से या शल्य कर्म से या हड्डी या मांस आदि के टूटने से जब कोई क्षति पहुँचती है तो वहां के मृत सेलों को पतला करके उन्हें वहां से हटा लेने के लिये वहां पर पित्ताग्नि की वृद्धि होती है। अनुभव से प्रतीत होता है कि जीवाणुजनितक्षत से सबसे अधिक पित्तवृद्धि होती है। जीवाणु श्वासमार्ग, अन्नमार्ग, त्वचा द्वारा किसी मार्ग से भी प्रविष्ट हो जाय तो उसके द्वारा हुई क्षति के विपरीत वहां वहां पित्ताग्नि की वृद्धि होती है। परीक्षक लोगों ने देखा है कि शरीर का जो प्रदेश क्षत होता है वहां एक विशेष Enzyme मिलता है जो Pepsin के साथ मिलकर वहां

के मरे हुए या कुचले हुए कठोर अवयव या Collagen tissue को पचाकर गलाकर द्रवरूप कर देता है। इस प्रकार शरीर में कहीं पर शोथ-राग-पाक-विद्रधिभाव-क्लेद-कोथ आदि हो जाय तो आयुर्वेद में उसे पित्तवृद्धि का लक्षण कहा जाता है तथा वहाँ से कोई तीक्ष्ण उष्ण गुण विषद्रव्य (Toxin) उत्पन्न होकर रक्त द्वारा शरीर में प्रसरण करजाता है जिसके मस्तिष्क के तापनियामक केन्द्र पर दुष्प्रभाव होने से शरीर का तापमान भी बढ़ जाता है जिसे दाह या ज्वर कहते हैं। इस तीक्ष्ण उष्ण विषद्रव्य का दुष्प्रभाव रक्तकणों पर हो और वे अधिक मात्रा में नष्ट होने लगें तो एक ओर कुछ पाण्डुता दूसरी ओर Bilirubin के अधिक मात्रा में उत्पन्न होने से त्वचा पर कुछ पीलापन झलकता है। मूत्र में इसके निकलने से मूत्र में भी पीतवर्णता पाई जाती है। अर्थात् इससे उत्पन्न Urobilin के कारण मूत्र पीला हो जाता है तथा रक्तकणों के अधिक टूटने से उत्पन्न Stercobilin के द्वारा मल भी कुछ पीतवर्ण हो जाता है। ज्वर की अधिकता से अन्तर्दाह स्वेद व पिपासा के लक्षण भी होते हैं। रोगी को शीत अच्छा प्रतीत होता है। शरीर के किसी अवयव में शोथ (Inflammation) या क्षत या पाक दाह राग आदि हों तो उसे पित्तवृद्धि का सूचक कहा जाता है। कहीं पर पूयभाव या विद्रधिभाव हो तो यह भी पित्तवृद्धिको सूचित करता है। आमाशय में या ग्रहण्याशय में क्षत हो, व्रण हो जैसे कि वहाँ हाइड्रोक्लोरिक एसिड की तीव्रता से होता है तो क्षुधा अधिक सताती है, खट्टी उलटी भी होती है इसे भी पित्ताजीर्ण कहते हैं। आंत में तीव्रशोथ हो या बड़ी आंत में व्रणभाव हो जैसे कि किसी जीवाणु विष के द्वारा हुए क्षत से होता है तो इसे भी पित्तातिसार या पित्तजरक्तातिसार कहते हैं। किसी जीवाणु विषके जैसे विषम ज्वर या Streptococci आदि के रक्त में संक्रमण से रक्तकण अधिक संख्या में नष्ट हों और उनसे Bilirubin की उत्पत्ति अधिक हो जिससे त्वचा का रंग कुछ पीला सा दिखाई पड़े तो इसे पित्त पाण्डु कहते हैं। रक्त में किसी तीक्ष्ण उष्णगुण जीवाणु विष के होने के कारण या किसी शारीरिकविष (Metabolic toxin) के

प्रसरण कर जाने या किसी तीक्ष्णउष्ण गुण औषध के प्रसरण कर जाने से रक्तवाहिनियों की दीवारों पर दुष्प्रभाव होकर रक्तस्राव (Toxic Purpura) होने लगे तो उसे भी पित्तजनित रक्तस्राव कहते हैं। सारांश यह है कि शरीर के किसी प्रदेश में या सारे शरीर में पक्तिकर्म (Metabolism या विशेषत: Calabolic metabolism) बढ जाय तो उससे उत्पन्न लक्षण को पित्तरोग कहते हैं। स्पष्ट है कि सम्पूर्ण शरीर में पक्तिकर्म वृद्धिकर्म से सन्तुलित न रहके बढ़ जाय तो शरीर क्षीण और निर्बल भी होता जाता है और Hyper thyroidism जैसे लक्षण होने लगते हैं। इस प्रकार शरीर में पित्तकर्म के मात्रा से अधिक हो जाने से जो दुर्लक्षण उत्पन्न होते हैं उन्हें पित्त रोग कहते हैं।

पित्तप्रकृति—जब शरीर में होने वाला सामान्य पक्तिकर्म (Oxidative या Matabolic activity या Catabolism) जन्म से ही कुछ तीव्र हो जिससे भूखप्यास, मलमूत्र, स्वेद आदि की प्रवृत्ति कुछ विशेष हो स्वभाव तथा विचारशक्ति भी कुछ तीव्र हो, शरीर भी मध्यम आकार का हो, गरमी और तीक्ष्ण उष्ण या उत्तेजक पदार्थ कम सहन होते हों तो इसे पित्त प्रकृति कहते हैं।

पित्तरोगचिकित्सा—

पित्तरोगों में क्षतयुक्त या शोथयुक्त प्रदेश में तथा सारे शरीर में पक्तिकर्म (Calabolic activity) बढ़ा हुआ होता है अत: उस प्रदेश को तथा सम्पूर्ण शरीर को शीत रखना चाहिये ताकि पक्तिकर्म तीव्र न हो, एतदर्थ उस स्थान पर शीतलेप लगाने चाहियें शीतल मट्टी का लेप या शतधौत घृत या शीतल पट्टी किसीका प्रयोग किया जा सकता है (Cold compress) रोगी को भी शीतल प्रदेश में रखना चाहिये। शरीर के अन्दर बढ़े हुए पक्तिकर्म (Oxidation) को कम करने के लिये रोगी को स्वल्प कार्बोहाइड्रेट का आहार देना चाहिये जिससे उसकी शक्ति कायम रहने पर Metabolism तीव्र न हो। शरीर में बढ़े हुए पक्तिकर्म से उत्पन्न विजातीय द्रव्यों को निकालने के

लिये रोगी को मृदु विरेचन देना चाहिये ताकि यकृत में से पित्त या Bile अधिक मात्रा में निकले (Detoxication)। शरीर के अन्दर बढ़े हुए पक्तिकर्म को कम करने के लिये रोगी को तिक्त शीतल गुण औषधियां देनी चाहिये जो कुछ-कुछ रेचनगुण भी हों। त्रिफला, कटुकी, मृद्वीका, मुलहटी आदि इस प्रकार की औषधियां हैं। चिरायता, उशीर, वासा, धनिया, चन्दन, नीलोत्पल, दूर्वा, कूष्माण्ड आदि तथा इनके बने योग त्रिफलावलेह, फलत्रिकादि क्वाथ या शर्वत या शीतल औषधियों के बने शर्वत, उशीरासव, चन्दनासव आदि पित्त रोगों की शान्ति के लिए दिये जा सकते हैं। तिक्त घृत बहुत से मिलते हैं उन्हें शहद या मिश्री के साथ दिन में कई बार चटाया जा सकता है। सभी पित्तरोगों अर्थात् पित्तज्वरों या विद्रधियों में ५–६ दिन के अन्दर अन्दर आगन्तु जीवाणु के विपरीत Antibodies उत्पन्न हो जाते हैं जिससे पित्तरोग शान्त हो जाते हैं। जीवाणु की प्रबलता हो, शोथपाक आदि अधिक हों तो किसी शिरा में से १०–१२ औन्स रक्त निकाल देने से भी पित्तरोग शान्त होने लगता है। उपर्युक्त उपायों से जीवाणु जनित पित्तरोग शान्त न हो तो जीवाणुनाशक औषधि (Antibiotic) का प्रयोग भी करना चाहिये।

कफविषयक चौथे अध्याय का सारांश

कफधातु—

शरीर के प्रत्येक सूक्ष्मतम अवयव में अर्थात् सेल में जैसे एक गति (वायु) तत्व सहज (Spontaneous) रूप में पाया जाता है तथा जैसे उसमें दूसरा एक पक्ति (अग्नि) तत्व भी सहज रूप में पाया जाता है वैसे ही उसमें एक तीसरा सहज वृद्धि (सोम या जल) तत्व भी रहता है, उक्त दोनों के समान यह भी अव्यक्त है केवल उसके कर्म ही व्यक्त होते हैं। इस तत्व के कारण प्रत्येक सेल अपने चारों ओर के रसमें से Amino acids को लेकर अपने अन्दर नाना प्रोटीन पदार्थ बना लेता है (Synthetic metabolism) सेलों को परस्पर जोड़ने वाले पदार्थ (Ground substance) को भी सेल ही बनाते

है। Fibroblasts नामक सेल सेलों के बीच के स्नायुतन्तु को बनाते हैं। अस्थियों में एक विशेष सेल्स Osteoblasts एक जाल को (Protein matrix को) बनाते और फिर उनमें कैल्सियम को डालके अस्थि को तय्यार करते हैं। मस्तिष्क में Astrocytes नामक सेल्स वहां के स्नायुतन्तु (Neuroglia) को बनाते हैं। नाड़ियों के सेल नाडी सूत्रों (Axons तथा dendrites) को बनाते हैं। गरज यह है कि सेल्स शरीर को बनाने में लगे हुए प्रतीत होते हैं। गर्भावस्था में सेलों के अन्दर विद्यमान यह वृद्धि तत्व बड़ा प्रबल प्रतीत होता है जिससे गर्भावस्था में शरीरवृद्धि बहुत होती है। उत्पत्ति के बाद भी युवावस्था तक अर्थात २०–२२ वर्ष तक वृद्धि की प्रक्रिया प्रबल ही रहती है। उसके बाद जब शरीर पूर्ण तौर से विकसित हो जाता है यह प्रक्रिया मन्द पड़ जाती है। आयुर्वेद में बार-बार कहा गया है कि इस कफतत्व के कारण शरीर के अंगों में स्निग्धता, गुरुता, श्लक्ष्णता के लक्षण उत्पन्न होते हैं। मस्तिष्क की अभिवृद्धि या पोषण ठीक-ठीक हो तो मन में उत्साह या उमग व सन्तोष व सहन शीलता का भाव रहता है, ज्ञान रहता है तथा बुद्धि ठीक-ठीक काम करती है। इस कफतत्व के कारण ही प्रत्येक सेल में अपने जैसे दूसरे सेलों को उत्पन्न करने की शक्ति रहती है। उसके न्यूक्लियस में यह शक्ति अन्तर्निहित रहती है। कफ के यथावत् स्थिति में रहने से ही शरीर में वृषता या सन्तानोत्पत्ति की शक्ति भी पर्याप्त मात्रा में रहती है।

वृद्धि के अतिरिक्त शरीर के अवयवों में क्षतिपूर्ति (Repair) का एक विचित्र गुण भी पाया जाता है। किसी प्रदेश के क्षत हो जाने पर आश्चर्यकारी रूप में वहाँ क्षतिपूर्ति की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। वहाँ कोई ऐसा पदार्थ आ जाता है जो क्षतिपूर्ति को उत्तेजित कर देता है। वहाँ पर Fibroblasts बढ़ जाते हैं, स्नायुतन्तु उत्पन्न होने लगता है। रक्तवाहिनियां प्रभूत मात्रा में बनने लगती हैं जिनसे वहाँ पर श्वेतकण (Leucocytes) बहुत अधिक मात्रा में आने लगते हैं। कुछ वहाँ उत्पन्न हुए या आये हुए जीवाणुओं को पकड़ लेते हैं, कुछ वहाँ पर जमा हुए मलबे को उठा ले जाते हैं इस प्रकार क्षत हुआ प्रदेश आश्चर्य-

कारी रूप में शीघ्र भर दिया जाता है। रस में रक्त में यहाँ तक कि ताजे वानस्पतिक रस में भी रोहण करने का एक विशेष गुण रहता है रस में विद्यमान Complement में रक्षा का विशेष गुण रहता है। रोगी को यदि कफतत्त्ववर्धक अहार विशेषतः सल्फर वाले प्रोटीन्स (Methionine आदि) पर्याप्त मात्रा में मिलते रहें तो यह क्षतिपूर्ति विशेष प्रबलता से होती है। रोगी के प्राणतत्त्व (वायुतत्त्व) के वर्धक पदार्थ जैसे विटामिन्स, लोहा, फोस्फोरस, कैल्सियम, मैगनीशियम आदि भी मिलते रहें तो भी क्षतिपूर्ति में सहायता मिलती है। गिण्डोये के सिर को काट देने पर देखा जाता है कि उसका सिर फिर से बनता है क्षतिपूर्ति का यह एक ज्वलन्त उदाहरण है। बड़ी आयु में क्रमशः यह वृद्धितत्त्व मन्द, मन्दतर होता जाता है पर यदि शरीर को बाह्य आघातों से, रोगों से बचाया जाए, मनको चिन्ताओं और विक्षोभों से बचाया जाए, उसे प्रोटीन आहार और आक्सिजन उचित मात्रा में मिलते रहें तो वृद्धि का भाव चिर काल बना रहता है। अण्डग्रन्थि का क्रियाशीलतत्त्व भी वृद्धितत्त्व का समर्थक होता है।

श्लेष्मा के विशेष स्थानः—यों तो शरीर के प्रत्येक सेल में यह वृद्धि, रक्षा व पोषण का कारणभूत कफतत्त्व उपस्थित है तथापि जहाँ-जहाँ श्लेषक रस या Mucus या लसीका Lymph अधिक मात्रा में देखने में आता है उसे कफ का विशेष स्थान कह दिया जाता है। जैसे (१) मुख तथा गले और जिह्वा में श्लेषक रस अधिक मात्रा में पाया जाता है, उसमें विद्यमान कफ को रस का बोधक होने से रसबोधक कफ कह दिया जाता है। (२) श्वासमार्ग के सर्व अवयवों में पाये जाने वाले श्लेषक रस को जिसमें विरोधी जीवाणु आदि पदार्थों को नष्ट कर देने का गुण विशेष रूप से विद्यमान है तथा इसी प्रकार हृदय तथा फुफ्फुस के चारों ओर के गिलाफ में विद्यमान श्लेषक एवं रक्षक रस को सारे शरीर का अवलम्बक होने से अवलम्बक श्लेष्मा कहते हैं। (३) आमाशय में भारी मात्रा में विद्यमान श्लेषक रस Mucus के अन्दर रहने वाले तीक्ष्ण तथा विरोधी पदार्थों से आमाशय की रक्षा करने वाले तथा कठोर भोजन को मृदु करने वाले कफ को क्लेदक कफ

कहा जाता है। (४) इसी प्रकार संधियों में विद्यमान श्लेषक रस को जो अस्थियो को परस्पर संघर्ष से बचाता है संधिश्लेषक श्लेष्मा कहते हैं। इसी प्रकार कण्डराओ (Tendons) आतों आदि के चारों ओर रहने वाले संघर्ष से बचाने वाले Serous Cavities के श्लेपक रस को भी श्लेषक श्लेष्मा कहते हैं। (५) मस्तिष्क के भीतर बाहर दोनों ओर रहने वाले Cerebrospinal fluid को जो सब इन्द्रियों के केन्द्र स्थान का तर्पक है तर्पक श्लेष्मा कहा है।

कफवृद्धि—

कफवृद्धि की अवस्था उसे कहते हैं जब पोपक आहार अर्थात् घृत, अन्न और अन्यस्नेह पदार्थ तो विशेष मात्रा में लिये जाएँ और शारीरिक व्यायाम सर्वथा न किया जाए प्रत्युत आराम का जीवन विताया जाए अर्थात् पक्तिकर्म (Metabolism या Catabolic activity) कम हो जाए, दूसरे शब्दों में कफ और पित्त का सन्तुलन बिगड़ जाए तो रक्तादि धातुओं में कुछ विजातीय पदार्थ बढ़ जाते हैं उदाहरणत: रक्त में वसा (Cholesterol, phospholipids, Lipoproteins आदि) बढ़ जाए या रक्त में खाण्ड की मात्रा बढ़ जाए (Hyper glycaemia हो) या रक्त में एसिड्स की मात्रा बढ़ जाए (Acidaemia) या रक्त वाहिनियो की दीवारों में फैट अधिकाधिक बैठता जाए जिससे धमनियों के स्रोत तंग होते जाएँ Atherosclerosis हो जाए रक्तभार (Bloodpressure) बढ़ जाए मूत्रमार्ग में अश्मरियाँ Renal calculi बन जाएं या मूत्र में तथा शरीर में Uric-acid, urates आदि की मात्रा बढ़ जाए या मेदास्थानों में मेदा क वृद्धि होती जाए या मुख पर या सिर पर से स्नेहस्राव—Seborrhoea की वृद्धि हो जाए या किसी श्लेष्मकला या झिल्ली में से श्लेष्मस्रावी अधिक निकलने लगे अर्थात् उसमें हलका सा (Catarrhal) शोथ बना रहे या शरीर के किसी अवयव में अतिवृद्धि (Hypertrophy) हो जाए तो इसे कफवृद्धि की अवस्था कहते हैं। कफवृद्धि की अवस्था में क्योंकि पित्तकर्म मन्द हो जाता है अतः शरीर में आम

द्रव्यों (Products of incomplete metabolism) की वृद्धि हो जाने को भी आयुर्वेद में कफवृद्धि की अवस्था कहते हैं।

कफरोग—इसी लिये यदि मुख, गले, नासिका आदि से अधिक श्लेष्मस्राव हो, आमाशय में श्लेष्मस्राव की अधिकता से आमाजीर्ण हो, आंतों से श्लेष्मस्राव की अधिकतावश आम अतिसार हो, शरीर की पित्ताग्नि की मन्दता से भोजन का परिपचन (Metabolism) कम होकर शरीर मन्द एवं सुस्त सा रहता हो, मेदावृद्धि अधिक होती जाए, रक्तवाहिनियों तथा हृदय की दीवारें मोटी होती जाएँ, रक्तभार कुछ बढ़ जाए, पक्तिकर्म के मन्द हो जाने से पित्ताश्मरियाँ या वृक्काश्मरियाँ बनने लगें या रक्त में कुछ विजातीय मलों की वृद्धि होने लगे, त्वचापर पामा, शीतपित्त आदि के शोथ हो जाएँ, मांसपेशियों, वातनाड़ियों (Nerves) कण्डराओं आदि के आवरणों में श्लेष्मस्राव होकर आमवातिक शूल के लक्षण हों तो इनको कफरोग कहते हैं।

कफप्रकृति—कफ और पित्त दोनों विरोधी तत्वों में से जन्म से ही कफ की विशेषता हो अर्थात् विघटनात्मक प्रवृत्ति की अपेक्षा घटनात्मक प्रवृत्ति पहले से ही प्रबल हो तो शरीर एवं मन का निर्माण विशेष होता है। देखने में ऐसा व्यक्ति भारी सुडौल मेदस्वी तथा सुहावने शरीर का होता है। यद्यपि अपनी गतियों या चेष्टाओं में मन्द होता है, उसमें भूख, प्यास तथा दूसरे कष्टों को सहन करने की शक्ति विशेष होती है। उसमें मानसिक तितिक्षा भी विशेष होती है जिससे वह विक्षोभशील नही होता। पित्त के क्रोध तथा वायु के चिन्ता-विषाद आदि भावों के स्थान पर कफप्रकृति के होने के कारण उसमें प्रसाद का भाव विशेष होता है। साधारणतः कफप्रकृति का व्यक्ति बलवान्, शान्त, मितभाषी सर्वप्रिय आयुष्मान् तथा अपने उद्योगों में सफलता प्राप्त कर लेने वाला होता है।

वायुदोष पित्तदोष कफदोषः—

कफदोष—शरीर में वृद्धिकर्म के बढ़ जाने तथा पक्तिकर्म के मन्द हो जाने से अर्थात् Anabolism की अपेक्षा Catabolism के कम

हो जाने से शरीर में कुछ विजातीय द्रव्यों का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है जिनमें से कुछ एक का ऊपर उल्लेख भी किया गया है। इस प्रकार के विजातीय द्रव्यों की उपस्थिति में उत्पन्न रोगों को कफदोषज कहते हैं।

पित्तदोष—जब शरीर में वृद्धिकर्म की अपेक्षा पक्तिकर्म तीव्र हो जाता है अर्थात् Anabolism की अपेक्षा Catabolism तीव्रतर हो जाता है तब भी शरीर के प्रोटीन्स में अतिपचन से कुछ Polypeptide प्रकृति के पदार्थों का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। इसी प्रकार रक्तकणो के अतिपचन से Bilirubin की वृद्धि हो जाना भी स्वाभाविक है। इस प्रकार के विजातीय पदार्थों को पित्तदोष कहते हैं और इनसे उत्पन्न रोगों को पित्तदोषजनित कहते हैं।

वायुदोष—इसी प्रकार यदि शरीर का या उसके किसी अङ्ग विशेष का प्राणतत्व या जीवनीय तत्व (वायुतत्व) निर्बल हो जाय जैसे कि उस अङ्ग को आघात पहुँचाने से या उसे अधिक थका देने से या उस पर किसी मृदु विष का विषैला प्रभाव उत्पन्न कर देने से होता है या मन को चिन्ता, व्याकुलता, भय, क्रोध आदि से ग्रस्त कर देने से होता है तो शरीर में कुछ विषैले द्रव्यों की उत्पत्ति हो जाती है जिनके विषय में अभी तक निर्णय से कुछ नही कहा जा सकता परन्तु इतना तो निश्चित है कि इन अवस्थाओं में रक्त में कुछ विष द्रव्य अवश्य उत्पन्न हो जाता है। इस अवस्था को वायुदोष की वृद्धि की अवस्था कहते हैं। वायुदोष की वृद्धि से उत्पन्न रोगों को वातदोषजनित रोग कहा जाता है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि आयुर्वेद के मत में दोष सञ्चय या किसी विजातीय द्रव्य की वृद्धि रोगों का कारण होती है। इस दोषसञ्चय को दूर करना तथा कफवृद्धि और पित्तवृद्धि को शान्त करना साथ ही प्राणतत्व हीन हो गया हो तो उसे बढ़ाना अर्थात् और उसकी हीनता से उत्पन्न वायुदोषवृद्धि या वायुदोष को दूर करना आयुर्वेदिक चिकित्सा का लक्ष्य रहता है।

स्पष्ट है कि आयुर्वेद प्रत्येक रोग की चिकित्सा में उस रोग की किसी विशेष औषधि देने पर उतना बल नहीं देता जितना कि वह शरीर को ठीक करने पर देता है अर्थात् वह शरीर में बढ़े हुए कफ को या पित्त को या उसमें बढ़े हुए वायुदोष को शान्त करने पर विशेष ध्यान देता है। इसी लिये आयुर्वेद में सर्वकफ रोगों, सर्वपित्त रोगो व सर्ववायु रोगों की चिकित्सा लगभग एक सी ही होती है। वायुरोगों व पित्तरोगों की चिकित्सा का उल्लेख ऊपर हो चुका है, कफरोगों की चिकित्सा का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

कफरोगों की सामान्य चिकित्सा :—

क्योंकि कफरोगों में पक्तिकर्म सारे शरीर में या उसके किसी अङ्ग विशेष में मन्द होता है, उसे बढ़ाना हो हमारा उद्देश्य होना चाहिये। रोगी को गरम स्थान में रख कर उसके शरीर को गरम ही रखना चाहिये। पक्तिकर्म को तीव्र करने के लिये उसका वृद्धिकर्म या पोषण कम कर देना चाहिये। रोग तीव्र रूप में हो तो पोषण ५–७ दिन के लिये बिलकुल बन्द कर देना चाहिये। अर्थात् उसे निराहार रखना चाहिये। उस काल में रोगी को केवल जलपर रहना चाहिये, उसके बाद इतने दिन ही उसे उष्णगुण रूक्ष यूपों या सब्जियों या फलरसो पर ही रहना चाहिये और बाद में बहुत काल के लिये सूखी रोटी, रूखी सब्जी, पर ही रहना चाहिये। प्रातः सायं गर्म जल में निम्बु शहद डाल कर लिया जा सकता या कोई फल या फलरस लिया जा सकता है। दूध लना हो तो वह चिकनाई से रहित होना चाहिये या उसके साथ बनी चाय भी ली जा सकती है। भोजन में मीठे, घृत, तथा नमक का सेवन बहुत कम या नहीं के बराबर कर देना चाहिये।

रोग तीव्र रूप में हो तो रोगी को ३–४ माशे मदनफल चूर्ण एक सेर जल से लेकर या लवण क्षार मिश्रित एक सेर जल जल पीकर वमन ले लेनी चाहिये और उसके बाद एक दो दिन यूषाहार पर रहकर फिर उपर्युक्त रूक्ष भोजन आरम्भ कर देना चाहिये।

औषधियों में से जो औषधियाँ कटुतिक्तकषाय रस हों, रूक्ष

उष्णगुण अग्निदीपन हों, रोग के स्थान के अनुसार शहद के या गर्म जल के अनुपान से देनी चाहिये। मूत्रल और स्वेदक औषधियाँ भी कफ रोगों में लाभप्रद होती हैं। औषधियों में से त्रिफला, त्रिकटु, पञ्चकोल, क्षार, कफकेतु, वर्धमान पिप्पली, चित्रक हरीतकी, अगस्त्य हरीतकी, बनफशा, मुलहटी, द्राक्षाक्काथ, रास्नादिक्काथ, मञ्जिष्ठादिक्काथ, कुलत्थ यवक्षार सुराक्षार क्वाथ, धातकी बिल्वकुटज इन्द्रयवक्काथ, या धातकी इन्द्रयवबिल्वचूर्ण, निम्बादिचूर्ण, चन्द्रप्रभा गुग्गुलु, सिंहनाद-गुग्गुलु, योगराजगुग्गुलु, गोमूत्र, या गोमूत्र से बहुत बार भावित किया लोहभस्म या मण्डूरभस्म, या दशमूलक्काथ के साथ शिलाजीत का प्रयोग ये सभी रोग स्थानानुसार शरीर में विद्यमान कफ शोथों कफवृद्धियों (Catarrhs या Catarrhal growths) के लिये दी जा सकती हैं।

जो कफरोगी साधारण रूक्षउष्णगुण आहार ले रहा हो उसे शक्ति के अनुसार भ्रमण, आसन, व्यायाम, मर्दन आदि का प्रातः सायं सेवन करना चाहिये।